सरस्वती-सिरीज़

हिन्दी-साहित्य

हिंदी के निर्माता

हिन्दी के निर्माताओं का सचित्र परिचय

बाबू श्यामसुंदरदास बी० ए०

सरस्वती-सिरीज़ नं० १७

हिन्दी के निर्माता [१ भाग]

बाबू श्यामसुंदरदास बी० ए०

प्रकाशक
इंडियन प्रेस लिमिटेड
प्रयाग

आभारस्वीकृति

मैंने इस ग्रंथ के प्रस्तुत करने में विशाल भारत, सुधा, सरस्वती तथा कविताकौमुदी से जहाँ-तहाँ सहायता ली है और किसी किसी अंश में उनके लेखों से विशेष संकलन किया है। अतएव मैं उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। बाबू कृष्णदेवप्रसाद गौड़ ने दो जीवन-चरितों के प्रस्तुत करने में मेरी विशेष सहायता की है। उन्हें भी धन्यवाद देना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। प्रोफेसर पूर्णसिंह का चित्र मुझे सेठ निहालसिंह की कृपा से प्राप्त हुआ। इसलिये इनका भी मैं आभारी हूँ।

—ग्रंथकर्त्ता

प्रस्तावना

हिंदी के आधुनिक गद्य-साहित्य का इतिहास अभी कोई डेढ सौ वर्ष पुराना है। यद्यपि गद्य का आरभ तो उसी दिन से हो जाता है, जिस दिन से मनुष्य बोलने लगता है और यद्यपि साहित्य के कामो के लिये हिंदी-गद्य का प्रयोग कई शताब्दी पुराना मिलता है, पर उसको आधुनिक साहित्यिक रूप देने का काम कोई डेढ सौ वर्ष पहले किया गया था।

हिंदी-साहित्य के निर्माण का काम एक ओर अवधी और दूसरी ओर व्रज-भाषा मे किया गया। खडी बोली तो केवल बोलचाल की भाषा थी। उसमे साहित्य-निर्माण का काम प्राचीन समय मे बहुत कम अथवा नाम-मात्र हुआ था। इसी लिये प्राचीन गद्य जो कुछ मिलता है, वह विशेषकर व्रज-भाषा मे ही लिखा मिलता है।

भारतवर्ष का भाषा-सबधी इतिहास बडा ही विचित्र और मनोरजक है। यह कहावत कि इतिहास की उद्धरणी होती रहती है अर्थात् ऐतिहासिक घटनाएँ समान स्थिति पाकर घूम-घूमकर होती रहती है, जितनी भारतवर्ष के भाषा-सबधी इतिहास पर चरितार्थ होती है, उतनी दूसरी किसी बात मे इतनी स्पष्ट नही लगती। वैदिक युग की बोलचाल की भाषा को लेकर जब वेदो की रचना हुई, तब मानो वैदिक साहित्य की भाषा की नीव डाली गई। उसी पर साहित्य की भाषा का प्रासाद खड़ा किया गया। समय पाकर उसने सस्कृत का रूप धारण किया। इस प्रकार साहित्य की भाषा अपने ढग पर विकसित

होती चली; पर बोलचाल की भाषा से इसकी कोई घनिष्ठता न रही। वह साहित्यिक भाषा के निर्माण मे सहायक होकर उससे अलग रही और अपना विकास अपने ढग पर करती रही। यद्यपि आरभ मे दोनो मे विभेद वहुत कम था, पर ज्यो-ज्यो समय बीतता गया त्यो-त्यो दोनो मे अतर और विभेद की मात्रा वढती गई।

पढे-लिखे या साहित्य-सेवी लोग अपना एक अलग समुदाय-सा वना लेते है और अपनी भाषा को शुद्ध तथा पवित्र रखने का उद्योग करते रहते है। जन-समुदाय को ऐसी कोई चिंता नही होती। वे भाव-प्रदर्शन को ही अपना मुख्य उद्देश्य मानकर अपना काम करते है और भाषा प्राकृतिक नियमो के अनुसार परिवर्तित या विकसित होती रहती है। जब 'शिष्ट' लोगो को जन-समुदाय को अपने साथ लेकर चलने की आवश्यकता पडती है अथवा जव वे उसकी सहायता या सहयोगिता के लिये उसके मुखापेक्षी होते है, तब उन्हें हारकर समझाने-बुझाने और अपने पक्ष मे करने के लिये उनकी 'अशिष्ट' 'अपरिमार्जित' 'असस्कृत' 'गँवारु' भाषा का प्रयोग करना पडता है। उनके हाथो मे पडकर यह बोलचाल की भाषा क्रमश साहित्यिक भाषा का रूप धारण करने लगती है अर्थात् उसमे साहित्य की रचना होने लगती है। इस प्रकार यह नवीन भाषा पुरानी भाषा का स्थान ग्रहण करती जाती है, पर बोलचाल की भाषा अपने ढग पर चली चलती है । स क्रम से एक ओर वैदिक बोलचाल की भाषा से पाली, पाली से प्राकृत, प्राकृत से अपभ्रश और अपभ्रश से आधुनिक भाषाओ का आविर्भाव हुआ, दूसरी ओर वैदिक भाषा के अनतर सस्कृत, सस्कृत के अनतर पाली, पाली के अनतर प्राकृत, प्राकृत के अनतर अपभ्रश और तब आधुनिक भाषाएँ भारतीय साहित्य के राज-सिहासन पर विराजने की अधिकारिणी हुईं । यह

क्रम सहस्रो वर्ष से चला आ रहा है और न जाने कब तक इसकी उद्धरणी होती रहेगी।

हमारे प्रदेश में आधुनिक भाषाओ मे पूर्व में अवधी, मध्यदेश मे व्रज-भाषा और पश्चिम मे खडी बोली का प्रचार रहा। पहले तो तीनो ही बोलचाल की भाषाएँ थी, पर क्रमश अवधी और व्रज-भाषा मे साहित्य की रचना होने लगी; खडी बोली प्राय बोलचाल के काम मे आती रही। अब उसी खडी बोली का साहित्य मे प्रयोग होने लगा है और अवधी तथा व्रज-भाषा का आधिपत्य उस क्षेत्र से क्रमश कम होता जा रहा है। इस परिवर्तन, इस भाषा-सबधी क्राति का आरभ डेढ़ सौ वर्ष पहले हुआ। राजनैतिक क्षेत्र मे लोग शातिमय क्राति का आदर्श उपस्थित करते है, पर इतिहास मे उसके उदाहरण नही मिलते। हमारे देश के साहित्यिक क्षेत्र मे ऐसी शातिमय क्राति का प्रत्यक्ष उदाहरण वर्तमान है और यह एक बेर नही, कई बेर हो चुका है। जब-जब साहित्यिक क्षेत्र मे कोई भाषा अपनी उन्नति की सीमा को पहुँच गई और उसका जन-साधारण से सपर्क नाम-मात्र का रह गया, तब-तब उसका स्थान बोलचाल की भाषा ने क्रमश लेना आरभ कर दिया और समय पाकर वह उस अधिकार पर पूर्णतया आरूढ हो गई। पर जिन्होने उसे यह राज्याधिकार दिलाया, उनको भूल जाने के कारण उसको उस पद से वचित होना पडा। यह क्रम सहस्रो वर्षो से चला आ रहा है, अभी तक चल रहा है और भविष्य मे इसके चलते रहने की पूर्ण सभावना है।

अस्तु, आधुनिक हिंदी-गद्य को साहित्यिक रूप देने अर्थात् गद्य-साहित्य मे खडी बोली का प्रयोग पूर्णरूप से आरभ करने का श्रेय सदासुख राय, सदल मिश्र, लल्लूजी लाल और सैयद इशाउल्ला खाँ को प्राप्त है; यद्यपि

संवत् १९९८ मे रामप्रसाद निरजनी ने 'भाषायोगवाशिष्ठ' नाम का ग्रथ सीधे-सादे पर अच्छे हिंदी-गद्य मे लिखा, परतु आधुनिक हिंदी-गद्य का वास्तविक विकास पीछे लिखे चार व्यक्तियो से होता है। सदासुख राय की मृत्यु १८८१ वि० मे हुई। लल्लूजी लाल ने सवत् १८८१ मे पेशन ली और सदल मिश्र सवत् १८८८ के कुछ पहले अपने घर लौट आए थे और इशाउल्ला खॉ की मृत्यु सवत् १८८३ मे हुई। जहाँ तक इन चारो महानुभावो के सबध के सवतो का पता लगा है, उसके आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि वे प्राय समकालीन थे और उनकी रचनाओ के काल मे विशेष अतर नही है। सदासुख राय ने अपने भक्तिभाव से प्रेरित होकर भागवत का अनुवाद खडी बोली मे किया। लल्लूजी लाल और सदल मिश्र ने तो कलकत्ते के फोर्ट विलियम कॉलेज के डॉक्टर जान गिलक्रिस्ट की तत्त्वावधानता मे ईस्ट इडिया कपनी के युरोपियन नौकरो को हिंदी भाषा का ज्ञान प्राप्त कराने के लिये गद्य ग्रथो की रचना आरभ की, पर इशाउल्ला खॉ को दूसरो के आदेश से अथवा दूसरो की आवश्यकता या अभाव को पूरा करने के लिये यह काम नही करना पडा। वे अपने ग्रथ लिखने का कारण इस प्रकार बताते है—"एक दिन बैठे बैठे यह बात अपने ध्यान मे चढी कि कोई कहानी ऐसी कहिए कि जिसमे हिंदी को छुट और किसी बोली को पुट न मिले; तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप से खिले। बाहर की बोली और गँवारी कुछ उसके बीच मे न हो। अपने मिलनेवालो मे से एक कोई बडे पढे-लिखे, पुराने-धुराने, डॉग-बूढे घाघ यह खटराग लाए। सिरा हिलाकर, मुँह थुथाकर, नाक-भौहे चढाकर, आँखे फिराकर लगे कहने—यह बात होते दिखाई नही देती। हिंदवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो। बस जितने भले लोग आपस मे

बोलते-चालते है, ज्यो का त्यो वही सब डौल रहे और छाँह किसी की न दे, यह नही होने का। मैने उनकी ठडी साँस का टहोका खाकर, झुँझलाकर कहा, मै कुछ ऐसा बड-बोला नही जो राई को पर्वत कर दिखाऊँ और झूठ सच बोलकर उँगलियाँ नचाऊँ और बे-सिर बे-ठिकाने की उलझी-सुलझी बाते बनाऊँ। जो मुझसे न हो सकता तो यह बात मुँह से क्यो निकालता ? जिस ढब से होता इस बखेड़े को टालता। इस कहानी को कहनेवाला आपको जताता है और जैसा कुछ उसे लोग पुकारते है, कह सुनाता है। दहना हाथ मुँह पर फेरकर आपको जताता हूँ जो मेरे दाता ने चाहा तो वह ताव-भाव और कूद-फाँद, लपट-झपट दिखाऊँ जो देखते ही आपके ध्यान का घोडा, जो बिजली से भी बहुत चचल अचपलाहट मे है, अपनी चौकडी भूल जाय।

टुक घोडे पर चढके अपने आता हूँ मै।
करतब जो कुछ है कर दिखाता हूँ मै॥
उस चाहनेवाले ने जो चाहा तो अभी।
कहता जो कुछ हूँ कर दिखाता हूँ मै॥

अब कान रखके, आँखे मिलाके, सम्मुख होके टुक इधर देखिए, किस ढब से बढ चलता हूँ और अपने फूल के पँखडी जैसे होठो से किस-किस रूप के फूल उगलता हूँ।"

लल्लूजी लाल प्रेम-सागर की भूमिका मे लिखते है—"श्रीयुत गुन-गाहक, गुनियन-सुखदायक जान गिलक्रिस्त महाशय की आज्ञा से सवत् १८६० मे श्री लल्लूजी लाल कवि ब्राह्मन गुजराती सहस्र-अवदीच आगरे-वाले ने विसका (चतुर्भुजदासकृत भागवत्त दशम स्कध के अनुवाद का) सार ले, यामनी भाषा छोड दिल्ली आगरे की खडी बोली मे कह, नाम प्रेम-सागर धरा। पर श्रीयुत जान गिलक्रिस्त महाशय के जाने से बना

अधबना, छप अधछपा रह गया था। सो अब श्री महाराजेश्वर अति दयाल कृपाल यसस्वी तेजस्वी गिलबर्ट लार्ड मिंटो प्रतापवान् के राज मे औ श्रीगुनवान सुखदान कृपा-निधान भगवान कपतान जान उलियम टेलर प्रतापी की आज्ञा से और श्रीयुत परम सुजान दयासागर परोपकारी डाकतर उलियम हटर नक्षत्री की सहायता से औ श्री निपट प्रवीन दयायुत लिपटन अबराहम लाकर रतीवत के कहे से उसी कवि ने सवत् १८६६ मे पूरा कर छपवाया, पाठशाला के विद्यार्थियो के पढ़ने को।"

इसी प्रकार पंडित सदल मिश्र नासिकेतोपाख्यान के अनुवाद के आरभ में लिखते है—"चित्र विचित्र सुन्दर-सुन्दर बड़ी-बडी अटारिन से इन्द्रपुरी समान शोभायमान नगर कलिकत्ता महा प्रतापी वीर नृपति कपनी महाराज के सदा फूल फूला रहे, कि जहाँ उत्तम-उत्तम लोग बसते हैं और देश-देश से एक से एक गुणीजन आय आय अपने अपने गुण को सुफल करि बहुत आनन्द मे मगन होते है। नाम सुन सदल मिश्र पडित भी वहाँ आन पहुँचा। वो बडी बडाई सुनि सर्व-विद्यानिधान ज्ञानवान महा-प्रधान श्री महाराज जान गिलक्रस्त साहब से मिला कि जो पाठशाला के आचार्य हैं। तिनकी आज्ञा पाय दो-एक ग्रथ सस्कृत से भाषा वो भाषा से सस्कृत किए। अब संवत् १८६० में नासिकेतोपाख्यान को कि जिसमे चद्रावती की कथा कही है, देववाणी से कोई कोई समझ नही सकता, इस-लिये खडी बोली में किया।"

सदासुख राय ने स्वातःसुखाय रचनाएँ की। उनकी रचनाएँ भक्ति-भाव से प्रेरित थी। लल्लूजी लाल ने अपने स्वामी की आज्ञा के वशीभूत होकर तथा सदल मिश्र ने फोर्ट विलियम के आचार्य जान गिलक्रिस्त के कहने पर तथा इशाउल्ला खाँ ने कुतूहलवश तथा अपनी विद्वत्ता और

काव्य-कुशलता की उमग मे आकर अपने-अपने ग्रथो की रचना की। इस प्रकार हिंदी-गद्य मे इन चार ग्रथो की रचना हुई।

सदासुख राय का वृत्तात उनके एक वशज ने इस प्रकार लिखा है—

मुशी सदासुख राय के पूर्वज और उनके पिता गाजीपुर ज़िले के सैदपुर नामक स्थान के रहनेवाले थे। मुशी जी के पिता का नाम मुशी शीतलचंद और पितामह का नाम भाईराम था। वे बादशाह मुहम्मद-शाह के दरबार में पाँच सदी मनसबदार थे। मुशी जी के पिता के पूर्वज दिल्ली मे ही रहते थे।

मुशी सदासुख राय का जन्म सवत् १८०३ मे हुआ था। सरकारी नौकरी के सिलसिले मे वे गाजीपुर से दिल्ली गए और वहाँ रहने लगे। शाही दरबार मे उनकी अच्छी प्रतिष्ठा थी। इसके बाद वे ईस्ट-इडिया कंपनी की नौकरी के सिलसिले मे चुनार आए। इन्ही दिनो उन्होने उर्दू और फ़ारसी मे बहुत-सी पुस्तके लिखी और काफी शायरी और हिंदी-रचनाएँ भी की। चुनार मे वे कंपनी सरकार के तहसीलदार थे। यो तो उनको अपनी नौकरी के कारण भिन्न-भिन्न स्थानो मे रहना पडा, किंतु ज्यादातर वे चुनार मे ही रहे। ६५ वर्ष की आयु में नौकरी छोडकर वे चुनार से प्रयाग मे आकर रहने लगे। प्रयाग मे रहकर वे अपने जीवन का शेष भाग हरि-भजन मे व्यतीत करना चाहते थे। यहाँ उनकी ससुराल थी। ससुराल से मुशी जी के रहने को एक मकान मिला था, जो बाद को उन्हे दे ही दिया गया। दिल्ली में मुशी जी के पास बहुत-सा शाही सामान तथा विलासिता की वस्तुएँ और धन था, जो अहमदशाह दुर्रानी के आक्रमण के समय सबका सब लुट गया था। प्रयाग मे उनके पास पिछले दिनो की कमाई का ही धन था। प्रयाग आकर वे एक साधु की भाँति अपना जीवन व्यतीत करने लगे।

मुशी सदासुख राय ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तके--'मुतखबुत्तवारीख' तथा 'सुखसागर' सवत् १८७५ तक समाप्त कर दी थी। इसके बाद वे गीता का अनुवाद तथा अन्य पुस्तके लिखते रहे। उन्होने उर्दू और फ़ारसी की शायरी के अतिरिक्त ब्रज-भाषा मे कविताएँ और भजन भी बनाए है। ये भजन और कविताएँ अधिकतर ईश्वर-सबधी या अध्यात्मविषयक है। उन्होने कई पुस्तके और कविताएँ लिखी है, किंतु वे सभी अब अप्राप्य है, न उनका पता ही मिल रहा है। उनके हाथ की लिखी एक 'नोट-बुक' प्राप्त है, जो पद्य मे लिखी है।

मुशी जी ने श्रीमद्भागवत के कुछ स्थलो को हिंदी के 'कडखा' इत्यादि छदो मे लिखा है। ऐसी रचनाओ मे उन्होने उर्दू-शब्दो का प्रयोग भी किया है। गोवर्द्धन-धारण के समय बादलो की सेना का वर्णन वे इस भाँति करते है।

"करके नज्म व नस्क फ़ौज का ठाठ-बाट से।
चले बादल सायका मैमना राद मैसरा आँधी हरावल॥
इत्यादि— —सुखसागर"

किंतु सुखसागर का मगलाचरण हिंदी के तत्सम शब्दो मे ही लिखा गया है। जो इस प्रकार है:—

मंगलाचरण

हर नाम सबका सार है, हर नाम से उद्धार है।
हर नाम दुख मे यार है, गोविंद भज, गोविंद भज॥
हर से बडा हर नाम है, हर नाम से आराम है।
हर नाम ही सो काम है, गोविंद भज, गोविंद भज॥

हर नाम सुख का मूल है, आनंद का फल-फूल है ।
दो-सिंधु का यह कूल है, गोविंद भज, गोविंद भज ।।
हर नाम रस जिसने पिया, वह कल्प-कल्पांतर जिया ।
ब्राह्मण कि वह चांडाल हो, हर नाम मे खुशहाल हो ।
दौलत से मालामाल हो, गोविंद भज, गोविंद भज ।।

× × ×

बस, कुन 'निसार' ई गुफ्तगू-दर फारसी-गो वेह अज़ू ।
बायदन्न मूदन जिक्रे-ऊ, हर नाम गो-हरनाम गो ।।

मुंशी जी 'भाषा' के प्रेमी थे । और उन्होंने जो भाषा लिखी है वह संस्कृतमिश्रित ऊँचे दरजे की भाषा है । और उसी भाषा मे अपना 'सुखसागर' और 'गीता' लिखी है । उन्हे उस साधु-भाषा का हिंदू-समाज से, उर्दू के प्रवेश के कारण, उठ जाने का भारी दुःख था । उन्होंने लिखा है :—

"रस्मो-रिवाज भाखा का दुनियाँ से उठ गया ।।"

सारांश यह कि मुंशी जी ने हिंदुओ की शिष्ट बोल-चाल की भाषा मे ही अपने भाव व्यक्त किए है । उर्दू से भाषा नही ली । इनकी क्रियाओ और शब्दो के स्वरूप स्पष्ट बताते है कि उर्दू से सर्वथा पृथक् खड़ी बोली में ही उन्होने अपनी पुस्तके लिखी है । उन्ही की भाषा का बाइबिल के अनुवादको ने अनुसरण किया है । स्वयं केरे साहब ने बाइबिल का हिंदी-अनुवाद 'नये धर्म-नियम' के नाम से संवत् १८६६ मे कराया, फिर समग्र ईसाई-पुस्तको का भी भाषानुवाद संवत् १८८५ मे समाप्त हुआ और इन सबमें भाषा मुंशी सदासुख राय की ही रक्खी गई । इनमें उर्दूपन को स्थान नही दिया गया । मुंशी जी की भाषा इस तरह हिंदी-गद्य के विकास-काल मे आदर्श रूप से स्वीकार की गई ।

मुशी जी गद्य के एक प्रचंड लेखक ही नही, एक ऊँचे दरजे के कवि भी थे। परतु उनकी हिंदी की रचनाएँ बहुत कम मिलती है। हाँ, उर्दू की थोडी-बहुत रचनाएँ मिलती है। एक रचना में उन्होने अपने कुल की उन्नति की आकाक्षा से "गौड-वश" की हजो की है। इस हजो मे वे लिखते है —

"किस्म जामिद मे हुआ सीमतिला अफ़जल तर,
जिनसे नामी मे वो शै जिससे बनै कंद व शकर।
जिनसे हैवाँ मे फ़उस ज्यादा अजाँ नौ ये बशर,
इसमें वह शख्श कि जो अहले-हुनर साहबे जर।
"गौड" है किसमे इलाही! कि न इधर, न उधर॥
सग होते तो कही होके सनम पुजवाते,
काठ होते तो इमारत मे कही लग जाते।
होते हैवाँ तो कही घास, खली, भुस खाते,
होते इनसाँ तो लियाकत से कही जस पाते॥
यह न अहजार, न अशजार, न हैवाँ, न बशर॥"–इत्यादि।

मुंशी जी चित्रकार भी थे। सूर के कुछ पदो के रागो को उन्होने सचित्र किया है।

अन्यत्र कथित प्राप्त 'नोट-बुक' के अतिम पृष्ठो में मुशी जी की मृत्यु के संवध में कुछ दोहे है जो सभवत उनके किसी निकटतम सबधी के लिखे जान पडते है और जिसके अक्षरो की लिपि मे भी पर्याप्त अतर है। वे दोहे ये है:—

"अस्टादश शत वर्ख पर, वीते अस्सी एक।
अगहन मास के दशमी, सुकुल पच्छ नेक॥"

(इस दोहे मे का रिक्त स्थान दीमको ने खा डाला है, अत नही पढा जा सकता ।)

"बुध बासर रवि उदय मे, सुभ नछत्र तिथि पाय ।
परम हुलास आनंद सो, इष्ट देव सिर नाय ॥
तीरथ-राज प्रयाग मे, आज्ञा ईश्वर पाय ।
पग धारे बैकुठ को, गौड सदासुख राय ॥"

मुशी सदासुख राय के गद्य का उदाहरण- इस प्रकार है:—

"इससे जाना गया कि सस्कार भी प्रमाण नही, आरोपित उपाधि है। जो क्रिया उक्त हुई तो सौ वर्ष मे चाडाल से ब्राह्मण हुए और जो क्रिया भ्रष्ट हुई तो वह तुरंत ब्राह्मण से चाडाल होता है । यद्यपि ऐसे विचार से हमे लोग नास्तिक कहेगे, हमे इस बात का डर नही। जो बात सत्य होय उसे कहा चाहिए, कोई बुरा माने कि भला माने। विद्या इस हेतु पढते है कि तात्पर्य इसका सतोवृत्ति है वह प्राप्त हो और उससे निज स्वरूप मे लय हूजिए। इस हेतु नही पढते है कि चतुराई की बातें कहके लोगो को बहकाइए और फुसलाइए और सत्य छिपाइए । व्यभिचार कीजिए और सुरापान कीजिए और धनपुण्य हकठौर कीजिए और मन को, कि तमोवृत्ति से भर रहा है, निर्मल न कीजिए। तोता है सो नारायण का नाम लेता है, परंतु उसे ज्ञान तो नही है ।"

लल्लू जी लाल का वृत्तात काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा द्वारा प्रकाशित प्रेमसागर की भूमिका मे इस प्रकार दिया है:—

"इनका नाम लल्लूलाल, लालचद, या लल्लूजी था और कविता मे उपनाम लाल कवि था । ये आगरा-निवासी गुजराती औदीच्य ब्राह्मण थे और उस नगर के बलका की बस्ती गोकुलपुरा मे रहते थे। इनके पिता का नाम चैनसुख जी था जो बडी दरिद्रावस्था मे थे और पुरोहिताई

तथा आकाशवृत्ति से किसी प्रकार अपना कार्य चलाते थे। इनके चार पुत्र थे जिनके नाम क्रमश लल्लूजी, दयालजी, मोतीरामजी और चुन्नीलालजी थे। सवसे वडे ये लल्लूजी लाल थे जिनके जन्म का समय निश्चित रूप से अभी तक ज्ञात नही हुआ है, पर सभवत इनका जन्म स० १८२० वि० के लगभग हुआ होगा। इन्होने घर ही पर कुछ सस्कृत, फारसी और व्रज-भाषा का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। जव स० १८४० वि० मे इनके पिता स्वर्ग को सिधारे, तव अधिक कष्ट होने के कारण ये स० १८४३ वि० में जीविका की खोज मे मुर्शिदाबाद आए। यहाँ कृपासखी के शिष्य गोस्वामी गोपालदास जी के परिचय और सत्सग से इनकी पहुँच वहाँ के नवाव मुवारकउद्दौला के दरवार में हो गई। नवाव ने इन पर प्रसन्न होकर इनकी जीविका वाँध दी जिससे ये आराम से वहाँ सात वर्ष तक रहे। स० १८५० वि० में गोस्वामी गोपालदास जी की मृत्यु हो जाने और उनके भाई गोस्वामी रामरग कौशल्यादास जी के वर्दवान चले जाने से इनका चित्त उस स्थान से ऐसा उचाट हुआ कि नवाव के आग्रह करने पर भी उनसे विदा हो ये कलकत्ते चले गए।

नाटौर की प्रसिद्ध रानी भवानी के दत्तक पुत्र महाराज रामकृष्ण से कलकत्ते मे इनका परिचय हो गया और ये कुछ दिन उन्ही के आश्रय में वहाँ रहे। जव इनके राज्य का नये रूप से प्रवध हो गया और उन्हे उनका राज्य भी मिल गया, तव ये भी उनके साथ नाटौर गए। कई वर्ष के अनंतर जव उनके राज्य मे उपद्रव मचा और वे कैद किए जाकर मुर्शिदा-वाद लाए गए, तव ये भी उनसे विदा होकर स० १८५३ मे कलकत्ते लौट आए जहाँ ये कुछ दिन चितपुर रोड पर रहे। वहाँ के कुछ वावू लोगो ने प्रकट मे तो इनका वहुत कुछ आदर-सत्कार किया, पर कुछ

सहायता न की, क्योकि वे लिखते है—"उन्ही के थोथे शिष्टाचार में जो कुछ वहाँ से लाया था, सो बैठकर खाया।" कई वर्ष इन्हे जीविका का कष्ट बना रहा। तब अत मे घबराकर जीविका की खोज मे ये जगन्नाथ-पुरी गए। जब जगदीश के दर्शन करने गये थे, तब स्वरचित निर्वेदाष्टक सुनाकर उनकी स्तुति की थी, जिसका प्रथम दोहा यो है :—

विश्वभर बनि फिरत हौ, भले बने महराज।
हमरी ओर निहारिकै, लखौ आपुनो काज॥

सयोग से नागपुर के राजा मनियाँ बाबू भी उसी समय जगदीश के दर्शन को आए हुए थे और वे खडे-खडे इनकी इस दैन्य स्तुति को, जिसे ये बडी दीनता के साथ पढ रहे थे, सुनते रहे। इससे उन्हे इन पर बडी दया आई और इनसे परिचय करके उन्होंने इन्हे अपने साथ नागपुर लिवा जाने के लिये बहुत आग्रह दिखलाया। इनका विचार भी वहाँ जाने का पक्का हो गया था, पर अभी तक इनके अदृष्ट ने इनका साथ नही छोडा था, जिससे ये उनके साथ नही जा सके और कलकत्ते लौट आए। विदा होते समय मनियाँ बाबू ने सौ रुपये भेट देकर इनका सत्कार किया था।

इन्ही दिनो साहबो के पठन-पाठन के लिये जब कलकत्ते मे एक पाठशाला खुली, तब इन्होने गोपीमोहन ठाकुर से जाकर प्रार्थना की। उन्होंने अपने भाई हरिमोहन ठाकुर के साथ इन्हे भेजकर पादरी बुरन साहब से इनकी भेट करा दी। उन्होंने आशा-भरोसा तो बहुत दिया, पर एक महीना व्यतीत हो जाने पर भी जब उनके किए कुछ नही हुआ, तब दीवान काशीनाथ खत्री के छोटे पुत्र श्यामाचरण के द्वारा डॉक्टर रसेल से एक अनुरोधपत्र प्राप्त करके इन्होने डॉक्टर गिलक्रिस्ट से भेट की, जो उन दिनो फ़ोर्ट विलियम कॉलेज के प्रिंसिपल थे। इन्ही

गिलक्रिस्ट साहब का, उर्दू-सत्सग लल्लूलालजी की विख्याति का मूल कारण हुआ।

साहब ने इन्हे ब्रज-भाषा की किसी कहानी को हिंदी-गद्य मे लिखने की आज्ञा दी और अर्थ-साहाय्य के साथ-साथ इनके प्रार्थनानुसार दो मुसलमान लेखको को, जिनके नाम मजहरअली खाँ विला और कासिम-अली जवाँ था, सहायतार्थ नियुक्त कर दिया। तब इन्होने एक वर्ष (स० १८५६ वि०) मे परिश्रम करके चार पुस्तको का ब्रज-भाषा से रेखते की बोली मे अनुवाद किया। इन पुस्तको के नाम सिहासन-बत्तीसी, बैताल-पचीसी, शकुतला नाटक और माधोनल है।

आगरे के तैराक बहुत प्रसिद्ध होते है। लल्लूजी भी वहाँ के निवासी होने के कारण तैरना अच्छा जानते थे। दैवात् एक दिन इन्होने तट पर टहलते समय एक अँगरेज को गगा जी मे डूबते देखा। तब इन्होने निडर होकर झटपट कपडे उतार डाले और गगा जी मे कूद दो ही गोते में उसे निकाल लिया। वह अँगरेज ईस्ट इंडिया कपनी का कोई पदाधिकारी था। उसने अपने प्राण-रक्षक की पूरी सहायता की और इन्हे कुछ धन देकर छापाखाना खुलवा दिया। उसी के अनुरोध से फोर्ट विलियम कॉलेज मे इनकी वि० स० १८५७ में पचास रुपये मासिक की आजीविका लग गई। बस इसके अनतर इनकी प्रतिष्ठा और ख्याति बराबर बढती चली गई। इन्होने अपने प्रेस मे, जिसका नाम सस्कृत प्रेस रखा था, अपनी पुस्तके छपवाकर बेचना आरंभ कर दिया। कपनी ने भी इस प्रेस के लिये बहुत कुछ सहायता दी, जिससे इसमें छपाई का अच्छा प्रबंध हो गया। यह यंत्रालय पहले पटलडाँगा में खोला गया था। इनके प्रेस की पुस्तको पर सर्वसाधारण की इतनी श्रद्धा हो गई थी कि इनकी प्रकाशित रामायण

३०),४०),५०) को और प्रेमसागर १५), २०), ३०) को विक जाते थे। इनके छापेखाने के छपे हुए ग्रथो को एक शताब्दी से अधिक हो गया; पर वे ऐसे उत्तम, मोटे और सफद बाँसी कागज पर छपे थे कि अब तक नये और दृढ बने हुए है।

लल्लूजी २४ वर्ष तक फोर्ट विलियम कालेज मे अध्यापक रहे और वि० स० १८८१ मे पेंशन लेकर स्वदेश लौटे। ये अपना छापाखाना भी आते समय नाव पर लादकर साथ ही आगरे लाए और वहाँ उसे खोला। आगरे मे इस छापेखाने को जमाकर ये कलकत्ते लौट गए और वही इनकी मृत्यु हुई। इनकी कब और कैसे मृत्यु हुई, इसका इनके जन्म के समय के समान निश्चित समय ज्ञात नही हुआ, परंतु पेंशन लेते समय इनकी अवस्था लगभग ६० वर्ष की हो गई थी।

यद्यपि इनके भाइयो को सतान थी, पर ये निस्सतान ही रहे। इनकी पत्नी का इन पर असाधारण प्रेम था और वे इनके कष्ट के समय बराबर इनके साथ रही। ये वैष्णव तो अवश्य ही थे, पर किस संप्रदाय के थे, यह ठीक नही कहा जा सकता। फिर भी ये राधावल्लभीय ज्ञात होते है।

इतना तो स्पष्ट ही विदित है कि ये कोई उत्कट विद्वान् नही थे और न किसी विद्या के आचार्य होने का गर्व ही कर सकते थे। संस्कृत का बहुत कम ज्ञान रखते थे, उर्दू और अँगरेजी भी कुछ-कुछ जानते थे। पर व्रज-भाषा अच्छी जानते थे। कवि भी ये कोई उच्च कोटि के नही थे। परंतु जिस समय ये अपनी लेखनी चला रहे थे, उस समय ये वास्तव मे ठेठ हिंदी का स्वरूप स्थिर कर रहे थे। हिंदी-गद्य के कारण ही ये प्रसिद्ध और विख्यात हुए है। कुछ लोगो का यह कथन है कि यदि ये आजकल होते, तो कदापि इतने यश के

भागी न होते। पर यह तो न्यूटन आदि जगत्प्रसिद्ध विद्वानो के लिये भी कहा जा सकता है।

इन्होने नीचे लिखे ग्रथो की रचना की थी:—

"१. सिहासनबत्तीसी–(खड़ी बोली)

२ बैतालपचीसी–(उर्दू भाषा)

३. शकुंतला नाटक–(खडी बोली)

४ माधोनल–(व्रज-भाषा)

५ माधवविलास–(गद्य-पद्य दोनो; व्रज-भाषा मे)

६ सभाविलास–(पद्यो का सग्रह)

७ प्रेमसागर–(खडी बोली)

८ राजनीति–(व्रज-भाषा)

९. भाषा-कायदा–(खडी बोली का व्याकरण)

१० लतायफ हिंदी–(उर्दू, हिंदी और व्रज-भाषा की कहानियो का सग्रह)

११ लालचंद्रिका–(गद्य टीका)"

पडित सदल मिश्र आरे के रहनेवाले शाकद्वीपीय ब्राह्मण थे। इनके पूर्वजो में शुकदेव मिश्र पहले-पहल आरा जिले के ध्रुवडीहा ग्राम में आकर वसे थे। ये श्रीकृष्ण जी के अनन्य भक्त थे और एकात जीवन निर्वाह करते थे, श्राद्ध, ब्राह्मण-भोजन आदि मे सम्मिलित नही होते थे। इस कारण उस गाँव के अन्य ब्राह्मणो से इनकी अनवन हो गई और अंत मे ये उस गाँव को छोडने के लिये वाध्य हुए। वहाँ से ये भदवर ग्राम में जाकर वसे। वहाँ के वावू को पहले इन पर सदेह हुआ; पर जाँच करने पर जव उन्हे ज्ञात हुआ कि ये एक भगवत्भक्त सात्त्विक वृत्ति के ब्राह्मण है, तव उन्होने इनका वडा आदर-सत्कार किया। उन्होने

मिश्र जी को कई गाँव देने चाहे, पर संतोषी शुकदेव मिश्र ने केवल हसनपुरा नामक गाँव लेना स्वीकार किया। बहुत दिनों तक ये और इनके वशधर इसी ग्राम में रहे, पर कुँअरसिह के समय में ये लोग आरा नगर के मिश्र टोले मे आकर बस गए और वही अब तक इनके वशधर रहते है।

पडित शुकदेव मिश्र के वश मे पडित लक्ष्मण मिश्र हुए। इनके तीन पुत्र थे—कृष्णमणि मिश्र, धैर्यमणि मिश्र और नंदमणि मिश्र। इन तीनो भाइयो का वश चला और अब तक उनके उत्तराधिकारी वर्तमान है। नदमणि मिश्र के तीन पुत्र हुए—बदल मिश्र, सदल मिश्र और सीताराम मिश्र। यही सदल मिश्र नासिकेतोपाख्यान के रचयिता है। इस वश के अनेक व्यक्ति प्रसिद्ध विद्वान् हुए है। पडित सदल मिश्र भी सस्कृत के अच्छे पडित थे। इनके वंशजो मे यह प्रसिद्धि है कि अपनी विद्वत्ता के कारण ये पटने बुलाए गए थे और वहाँ से फोर्ट विलियम कॉलेज मे काम करने के लिये भेजे गए थे। नासिकेतोपाख्यान की प्रस्तावना से यह स्पष्ट नही होता कि सदल मिश्र स्वय नौकरी की खोज में कलकत्ते गए अथवा पटने बुलाए जाकर वहाँ से कलकत्ते भेजे गए। जो कुछ हो, यह तो स्पष्ट ही है कि कलकत्ते के फोर्ट विलिमय कॉलेज मे ये नौकर हो गए।

बाबू शिवनदन सहाय लिखते है—"सवत् १९०४ का इनके नाम का एक बयनामा हमारे देखने मे आया है, जो इस समय इनके पौत्र पडित रघुनदन मिश्र जी के पास है। इसके पहले के कागजो मे भी इनका नाम है। १९०५ सवत् के एक कागज मे इनका नाम न होकर केवल इनके वशधरो का नाम देखा जाता है।" इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि सवत् १९०४ और १९०५ के बीच में पडित सदल

मिश्र की मृत्यु हुई। इनके वशधरो का कहना है कि पडित सदल मिश्र ने ८० वर्ष की आयु पाई थी। इस हिसाब से इनका जन्म सवत् १८२४-२५ के लगभग होना चाहिए। इनके वशधरो का यह भी कहना है कि २४-२५ वर्ष की अवस्था मे ये कलकत्ते गए थे, जो सवत् १८५० के लगभग पडती है। सवत् १८६० मे इन्होने नासिकेतोपाख्यान का अनुवाद किया था। स्वय यह भी लिखते है कि मैंने "दो-एक सस्कृतग्रथो से भाषा और भाषा से सस्कृत किए।" पर वे सब ग्रथ अब कही मिलते नही। सवत् १८८८ मे इन्होने ११,०००) पर सिंगही गाँव, वयगुलफा और हसनपुरा का ठीका लिया था। ऐसा जान पड़ता है कि कलकत्ते में ३०-३५ वर्ष सेवा कर और बहुत-सा धन कमा कर ये अपने घर लौट आए थे। सवत् १८६७ मे इन्होने तुलसीदास के रामचरितमानस का एक संस्करण सशोधित करके छपवाया था। इस सस्करण की एक प्रति काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय में है। सवत् १८९३ मे फोर्ट विलियम कॉलेज टूट गया था। अतएव उसके पूर्व ही उनका घर लौट आना सभव जान पडता है। अब तक इनके एक ही ग्रथ का पता लगा है।"

सन् १९०१ मे कलकत्ते की एसियाटिक सोसाइटी के पुस्तकालय मे रक्षित हस्तलिखित हिंदीपुस्तको की जाँच करते हुए मुझे उनकी अनुवादित चद्रावती अथवा नासिकेतोपाख्यान की एक प्रति प्राप्त हुई थी। उस प्रति के आधार पर उसे सपादित कर मैंने 'नागरी-प्रचारिणी ग्रथमाला' में प्रकाशित करवाया था।

लाला सदासुख राय और पडित सदल मिश्र की भाषा प्रौढ और परिमार्जित है और उसमे वह शिथिलता या अस्थिरता नही है, जो लल्लजी लाल के प्रेमसागर मे देख पडती है।

सैयद इशाउल्लाह् खाँ के पूर्वज समरकद के एक प्रतिष्ठित वश के थे। ये लोग पहले कश्मीर मे आकर रहे और फिर वहाँ से दिल्ली आए। वहाँ शाही दरबार मे इन लोगो का अच्छा मान हुआ। इशाउल्ला खाँ के पिता माशाउल्लाह् खाँ अच्छे कवि और हकीम थे। यथासमय वे भी अपने पूर्व पुरुषो की भाँति तत्कालीन वादशाह् के दरबार मे हकीम नियत हुए। पर उस समय चगताई वश की शक्ति क्षीण हो चुकी थी; अतएव माशाउल्लाह् खाँ ने दिल्ली छोडकर मुर्शिदाबाद जा बसने की ठानी। वहाँ के नवाब के यहाँ उनका अच्छा आदर हुआ। नवाब सिराजुद्दौला का नाम इतिहास-प्रसिद्ध है। वही उस समय बगाल के अधिकारी थे। उनके दरबार मे विद्वानो और गुणीजनो का अच्छा आदर होता था। माशाउल्लाह् खाँ मुर्शिदाबाद मे बस गए और आनद से अपने दिन बिताने लगे। वही उनके पुत्र इशाउल्लाह् खाँ का जन्म हुआ। बालक इशाउल्लाह् खाँ का स्वभाव चचल और बुद्धि तीव्र थी। पिता से शिक्षा पाकर ये छोटी अवस्था मे ही कविता करने लग गए थे। जब बगाल में राजनीतिक अवस्था चिंताजनक हुई, तब सैयद इंशाउल्लाह् खाँ मुर्शिदाबाद से दिल्ली चले आए। उस समय दिल्ली के राजसिंहासन पर शाह् आलम विराजते थे। यद्यपि वे धन और शक्तिहीन थे, नाम-मात्र के बादशाह रह गए थे, तथापि उनको काव्य से प्रेम था। वे स्वय कविता करते थे और गुणी कवियो का आदर भी करते थे। उन्होने इशाउल्लाह् खाँ को अपने दरबार मे रख लिया। इशाउल्लाह् खाँ बडे विनोदप्रिय थे। वे केवल कविता ही नही करते थे, बल्कि समय-समय पर विनोदमय कहानियाँ भी रचकर दरबार मे सुनाया करते थे, जिससे उनकी बहुत कुछ पूछ रहती, और मान-मर्यादा की भी कमी न थी। पर यह सब मान-मर्यादा खोखली थी। दिल्लीपति शाह् आलम

धनहीन होने के कारण इनकी यथेष्ट आर्थिक सहायता नही कर सकते थे; इसलिये इन्हे प्राय अर्थ-कष्ट बना रहता था। निदान इन्हे अपने कष्टो की निवृत्ति के लिये किसी दूसरे दरबार का आश्रय लेने की आवश्यकता अनिवार्य हो गई। उस समय अवध के नवाब आसफुद्दौला के दान और उदारता की चर्चा चारो ओर फैल रही थी। 'जिसको न दे मौला, उसे दे आसफुद्दौला' तक लोग प्राय कहा करते थे। सैयद साहब ने भी इसी दरबार का आश्रय लेने का निश्चय किया। ये लखनऊ आए और नवाब साहब की सेवा मे उपस्थित हुए। क्रमश इनका मान बढने लगा। कुछ समय के अनतर एक दिन यो ही हँसी-हँसी मे इनमे और नवाब साहब मे कुछ मनमुटाव हो गया। तब से ये दरबार छोडकर एकातवास करने लगे।' सात वर्ष एकातवास मे बिता संवत् १८७३ मे ये स्वर्ग को सिधारे।

सैयद इशाउल्लाह खाँ फारसी और अरबी भाषाओ के अच्छे ज्ञाता थे। आपने उर्दू मे भी कविता की है। प्रातीय बोलियो से भी आप भली भाँति परिचित थे और कभी-कभी उसका प्रयोग भी कर लेते थे, जैसे "झाडू मियाँ को भुइँ पै पटकिस घुमाय के।" जिस समय सैयद साहब लखनऊ मे थे, उस समय आपने रानी केतकी की कहानी लिखी। ऐसा अनुमान होता है कि यह कहानी १८५६ और १८६६ के बीच मे लिखी गई होगी। इस कहानी के लिखने का उद्देश्य तो यह था कि एक ऐसी रचना की जाय जिसमें 'हिंदी की छुट और किसी वोली की पुट न मिले' और 'हिंदवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो।' इस उद्देश्य से प्रेरित हो सैयद इशाउल्लाह खाँ ने इस कहानी की रचना की और उसमे उन्हे अच्छी सफलता प्राप्त हुई। पहले तो कहानी मौलिक है, किसी की छाया नही है और न किसी के आधार पर लिखी गई है। कहने का ढग

भी चित्ताकर्षक और मनोहर है। जहाँ-तहाँ उसमे कविता भी दी गई है, पर वह उच्च कोटि की नही। सबसे बढकर बात जो इस कहानी में है, उसकी भाषा है। एक तो अरबी, फारसी और उर्दू के विद्वान् होने पर भी आपने ठेठ हिंदी मे रचना की जो आपकी कुशलता प्रमाणित करती है। दूसरे इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि अब तक हिंदी-गद्य का कोई स्वरूप पूर्णतया निश्चित नही हुआ था। सदासुख राय लल्लूजी लाल, सदल मिश्र और इशाउल्लाह खाँ ये इसके प्रथम आचार्य, इसके स्वरूप की नीव रखनेवाले तथा हिंदी-साहित्य के लिये एक नये पथ के प्रदर्शक हुए है। चारो महानुभाव समकालीन थे और चारो की रचनाएँ भी लगभग एक ही समय में हुई, पर सदासुख राय के भागवत, लल्लूजी लाल के लिये चतुर्भुजदास का भागवत और सदल मिश्र के लिये सस्कृत का नासिकेतोपाख्यान उपस्थित था। इशाउल्लाह खाँ के लिए ऐसा कोई आधार न था। लल्लूजी लाल की भाषा अपनी अस्थिरता का प्रत्यक्ष प्रमाण दे रही है। न शब्दो का रूप ही निश्चित हुआ है और न व्याकरण-सबधी नियमो का निर्धारण होकर प्रयोगो मे स्थिरता हो आई है। तुकबदी, अनुप्रास और कवितामय भाषा उनकी विशेषताएँ है। सदल मिश्र की भाषा लल्लूजी लाल की भाषा से अधिक पुष्ट और परिमार्जित है। स्वभावत इसे लल्लूजी लाल की रचना के पीछे का होना चाहिए था। यदि लल्लूजी लाल के प्रेमसागर रचने का समय तथा सदल मिश्र के नासिकेतोपाख्यान के निर्माण का समय न दिया होता और केवल दोनो की भाषा को ही आधार मानकर उनके रचनाकालो का निश्चय करना होता, तो इस परीक्षा मे लल्लूजी लाल पहले के और सदल मिश्र पीछे के माने जाते। पर वास्तव मे दोनो समकालीन थे और दोनों के ग्रथ भी लगभग एक ही समय मे रचे गए। लल्लूजी लाल का प्रेमसागर

सवत् १८६६ मे पूरा होकर प्रकाशित हुआ, यद्यपि उसका बनना सवत् १८६० मे आरभ हो गया था। सदल मिश्र का नासिकेतोपाख्यान सवत् १८६० मे बना। और सदासुख राय के ग्रथ १८६८ मे समाप्त हुए। साराश यह कि चारो के ग्रथ एक ही समय मे बने। तीन की भाषा मे प्रौढता है, चौथे मे अस्थिरता है। अवश्य ही इसका कोई कारण होना चाहिए। मेरी समझ मे लल्लूजी लाल कोई बडे विद्वान् नही थे। उन्होने चतुर्भुज-दास का अनुकरण बहुत अधिक किया और वे उनकी भाषा के प्रभाव मे बेतरह पड गए है। सदल मिश्र पडित थे और उन्होने अपनी शक्ति पर भरोसा करके रचना की। इस दृष्टि से सदल मिश्र का आसन लल्लूजी लाल से ऊँचा है। सदासुख राय की भाषा परिपुष्ट है। वे सदल मिश्र के समकक्ष रखे जा सकते है।

इशाउल्लाह खाँ का ढंग निराला है। यद्यपि उन्होने प्रतिज्ञा तो यह की थी कि हिंदवीपन भी न निकले, भाखापन भी न हो, पर वे कहाँ तक इसके पूरा करने मे सफल हो सके है, यह विचारणीय है। इसका निर्णय 'हिंदवीपन' और 'भाखापन' इन दो शब्दो के अर्थो पर निर्भर करता है। अवश्य ही ये दोनो शब्द समानार्थक नही है। मेरा अनुमान है कि 'हिंदवीपन' से सैयद साहब का तात्पर्य यही था कि हिंदी के शब्दो का ही प्रयोग हो, फारसी और अरबी आदि विदेशी भाषाओ से शब्दो की मिलावट न हो। भाखापन से उनका अर्थ यही हो सकता है कि प्रातीय बोलियो जैसे ब्रज-भाषा या अवधी आदि के व्याकरण का अनुकरण न किया जाय। खडी बोली मे अभी तक गद्य की रचना प्राय आरभ नही हुई थी। सभव है कि लल्लूजी लाल और सदल मिश्र की रचनाओ का सैयद इशाउल्लाह खाँ को अभी तक पता भी न चला हो। अतएव सैयद साहब ने अपनी रचना के लिए जो दो प्रतिबध स्वय अपने

ऊपर आरोपित कर लिए थे, उनका यही भाव था कि विदेशी शब्दो का प्रयोग न हो और वाक्यो की रचना वैसी न हो, जिसे हम लोग उर्दूपन कहते है।

यद्यपि उर्दू की जननी हिंदी की खडी बोली है, पर बहुत ग्रथो मे अब यह दिनो दिन स्वतत्र होती जा रही है। उर्दू की उत्पत्ति का मुख्य कारण राजनीतिक स्थिति है। इसका आकार-प्रकार तो आरभ में सर्वथा खडी बोली का था, अर्थात् उर्दू का व्याकरण खडी बोली के अनुसार था और उसमें उसी के नियमो का अनुशासन माना जाता था, पर शब्दो के लिये कोई प्रतिबध नही था। हिंदी, तुर्की, अरबी, फारसी सब भाषाओ के शब्द जो साधारणत समझ मे आ सकते थे, प्रचुरता से प्रयुक्त होते थे। राजाश्रय पाकर इस भाषा ने क्रमश. उन्नति की और मुसलमानो से पाली-पोसी जाकर तथा उसके आदर और स्नेह की भाजन होकर इसने उनका अनुकरण करने मे ही अपने जीवन का साफल्य समझा। क्रमश फारसी प्रयोगो का इसमें प्रवेश होने लगा और इस उपाय से यह अपना व्यक्तित्व स्वतंत्र करने के उद्योग मे लगी। इस समय हिंदी और उर्दू का विभेद चार बातो में स्पष्ट देख पडता है :—

(१) उर्दू मे अरबी-फारसी के शब्दो का तत्सम रूप मे अधिकता से प्रयोग।

(२) उर्दू पर फारसी के व्याकरण का बढता हुआ प्रभाव, जैसे बहुवचन का रूप प्राय फारसी के अनुसार होता है।

(३) सबध, करण, अपादान और अधिकरण कारको की विभक्तियाँ हिंदी के अनुसार न होकर फारसी के शब्दो या चिह्नो-द्वारा प्रदर्शित की जाती है।

(४) वाक्य-विन्यास का ढग उलटा हो रहा है। हिंदी में पहले कर्त्ता तब कर्म और अत मे क्रिया होती है, पर उर्दू मे इस क्रम मे उलट-फेर होता है।

इस आधुनिक अवस्था को जब हम इशाउल्लाह खाँ की रचना से मिलाते है, तब हमे यह विदित होता है कि इस पृथक्ता का सूत्रपात उसी समय हो गया था, यद्यपि उसने इतनी स्पष्टता नही धारण की थी। ऊपर जिन चार विभेद-सूचक बातो का उल्लेख किया गया है, उनमे से पहली तीन बाते तो इशाउल्लाह खाँ की कृति में नही मिलती; पर चौथी का आरभ स्पष्ट देख पड़ता है। अतएव हमे यह कहने मे सकोच नही है कि इशाउल्लाह खाँ की भाषा-शैली उर्दू ढग की है। पर साथ ही हमे यह मानने में कुछ भी सकोच नही है कि लल्लूजी लाल, सदासुख राय तथा सदल मिश्र की अपेक्षा इनकी भाषा-शैली मनोहर है। हिंदी और उर्दू के गद्य मे वैसा ही अतर है, जैसा एक प्रौढा स्त्री तथा एक रूपगर्विता नवयौवना मे होता है। हिंदी में वह चपलता, चचलता, इतराना, इठलाना नही देख पड़ता जो उर्दू में देख पडता है। मुसलमानी दरबार का आश्रय पा और अपने उपासको की स्नेह-भाजन हो उर्दू का ऐसा न करना आश्चर्य की बात होती। भाषा मनुष्य की अतरात्मा का बाह्य रूप है। जैसे मन में भाव होते है, जैसी अतरात्मा की स्थिति होती है वैसी ही भाषा भी होती है। इसलिए यदि हम उर्दू-गद्य मे उस चचलता के लक्षण पाते है, जो मुसलमानी दरबार मे आने-जानेवाली मुसलमान कामिनियो के लिये आवश्यक और अनिवार्य था, तो इसमें आश्चर्य करने की कोई बात नही है। सैयद इशाउल्लाह खाँ की भाषा-शैली उर्दू-गद्य के डेढ सौ वर्ष पुराने रूप का एक बहुत अच्छा उदाहरण है। यद्यपि अधिकाश शब्द ठेठ हिंदी के है, पर उर्दू-मुहावरो का अधिकता से

प्रयोग हुआ है; और तुकबंदियो ने तो सैयद साहब को बेतरह घेर रक्खा है। साराश यह कि सैयद इशाउल्लाह खॉ की पुस्तक हिंदी और उर्दू दोनो भाषाओ के पृष्ठ-पोषको के लिये समान आदर की वस्तु है और हिंदी-गद्य की विकास-लडी की एक सुदर और चमकती हुई कड़ी है।

इशाउल्लाह खॉ की भाषा मे एक विशेषता है जिसे जान लेना आवश्यक है। आधुनिक हिंदी और उर्दू मे कृदत क्रियाओ और विशेषणो का प्रयोग होता है, पर उनमे वचनसूचक चिह्न नही रहते। पुरानी उर्दू मे यह बात नही थी। उसमे वचनसूचक चिन्हो का प्रयोग होता था। इशाउल्लाह खाँ ने भी ऐसे प्रयोग किए है, जैसे आतियाँ जातियॉ जो साँसें है। पासलियॉ बहलातियाँ है, इत्यादि। मेरी समझ मे यह प्रभाव पजाबी के कारण पडा है जिसमे अब तक ऐसे प्रयोग होते है।

मुशी इशाउल्लाह खाँ की कहानी को पहले-पहल राजा शिवप्रसाद ने अपने गुटके के तीसरे भाग में छापा था। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, इसका कोई स्वतत्र सस्करण तब तक प्रकाशित नही हुआ था। जब मैं लखनऊ मे था, तब मुझे इसकी एक हस्त-लिखित प्रति तथा फारसी अक्षरो में छपी हुई एक प्रति प्राप्त हुई थी, जिसके आधार पर 'काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा' ने इसका एक सस्करण प्रकाशित किया।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है, उससे स्पष्ट है कि आधुनिक हिंदी-गद्य के प्रथम आचार्य इशाउल्लाह खाँ, लल्लूजी लाल, सदल मिश्र और सदासुख राय है। लल्लूजी लाल और सदल मिश्र तो फोर्ट विलियम कॉलेज मे नौकर थे, सदासुख राय मुसलमानी दरबार में नौकर थे,

पर वहाँ की रहन-सहन का प्रभाव उनके मानसिक और साहित्यिक जीवन पर नही पडा और इशाउल्लाह खाँ लखनऊ के नवाब आसुफुद्दौला के दरबारियो मे थे। इशाउल्लाह खाँ की भाषा मे उर्दूपन के आरभिक रूप के दर्शन होते है, जब तक कि उर्दू हिदी से अलग नही हुई थी और न अलग होने के उद्योग मे ही लगी थी। लल्लूजी लाल की हिदी पर चतुर्भुजदास की ब्रज-भाषा का पुट चढा हुआ है और वह अपेक्षाकृत अस्थिर और अपरिमार्जित है। सदल मिश्र की हिदी लल्लूजी लाल की हिदी की अपेक्षा अधिक प्रौढ और परिमार्जित है। यह अवस्था सदासुख राय की भाषा की भी है। अतएव भाषा की दृष्टि से विवेचन करने पर आचार्यो मे पहला स्थान इशाउल्लाह खाँ, दूसरा सदासुख राय, तीसरा सदल मिश्र और चौथा लल्लूजी लाल को मिलना चाहिए।

इन चारो महानुभावो के इस प्रकार आधुनिक हिदी-गद्य का आरभ कर लेने के पीछे कोई ५०-६० वर्ष तक फिर यह सुषुप्त अवस्था मे रहा। केवल मिशनरियो की कृपा से यह जीवित रहा। इन पादडियो ने मुख्यत अपने धर्म के प्रचार के उद्देश्य से बाइबिल आदि के अनुवाद तथा खृीष्टीय भजनो के सग्रह छापे। साथ ही स्कूली पुस्तको की ओर भी इनका ध्यान गया। इन पुस्तक-प्रकाशको के उस समय चार केद्र थे—कलकत्ता, शिवरामपुर, मिर्जापुर और आगरा। इन चारो स्थानो से अनेक पुस्तके हिंदी में प्रकाशित हुई। इस प्रकार यह गद्यरूपी बालक जीवित रहा। ५०-६० वर्ष पीछे जब यह किशोर-अवस्था को प्राप्त हुआ तब इसके पुत्र उर्दू ने इसे गला घोटकर मार डालना चाहा, पर राजा शिवप्रसाद ने उसकी रक्षा की। भारतेदु हरिश्चद्र के समय तक यह अधमरी अवस्था मे रहा। हाँ, राजा लक्ष्मणसिंह ने इसे कुछ

पौष्टिक औषधि दी। पर हरिश्चंद्र ने अपना सर्वस्व अर्पण कर इसे ऐसी जीवनीशक्ति प्रदान दी कि वह बलवान् होकर मैदान मे आगया और फिर तो नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना तथा सरस्वती के प्रकाशन से उसने वह बल पाया कि एक शक्तिशाली युवक के रूप मे वह अपनी उन्नति कर चला। उस समय से लेकर आज तक उसकी सेवा-शुश्रूषा करनेवालो मे से उन ५१ महानुभावो के कार्यो का इस पुस्तक मे उल्लेख है जिन्होने अपनी-अपनी रीति पर इसे अधिक शक्तिशाली बनाने तथा उसके भविष्य मार्ग को सुरम्य और सुव्यवस्थित बनाने का सफल उद्योग किया। इनमे से जन्म-क्रम के अनुसार पहले राजा शिवप्रसाद और अतिम बाबू जयशकरप्रसाद है । इन ५१ महानुभावों मे से ८ ने ७० वर्ष के ऊपर आयु पाई। इनमे भी सबसे अधिक आयु रायबहादुर लाला सीताराम ने पाई। सबसे छोटी आयु पानेवाले वे स्वनाम धन्य भारतेंदु जी हुए जिन्होने अपने आपको हिंदी-साहित्य की सेवा मे बलि कर दिया। सबसे अधिक महानुभावो का निधन सवत् १९८१–१९९० के बीच मे हुआ। और सबसे अधिक महानुभावो ने सवत् १९१० और १९२० के बीच में जन्म ग्रहण किया।

निर्माताओं की सूची

		जन्म निधन	आयु
(१)	राजा शिवप्रसाद, सितारेहिंद	१८८०-१९५२	७२
(२)	राजा लक्ष्मणसिंह	१८८३-१९५३	७०
(३)	बाबू नवीनचंद्र राय	१८९५-१९४७	५२
(४)	पंडित बालकृष्ण भट्ट	१९०१-१९७१	७०
(५)	बाबू तोताराम	१९०४-१९५९	५५
(६)	मुंशी देवीप्रसाद	१९०४-१९८०	७६
(७)	राजा रामपालसिंह	१९०५-१९६६	६१
(८)	बाबू गदाधरसिंह	१९०५-१९५५	५०
(९)	रायबहादुर पंडित लक्ष्मीशंकर मिश्र	१९०६-१९६३	५७
(१०)	भारतेंदु हरिश्चंद्र	१९०७-१९४२	३५
(११)	लाला श्रीनिवासदास	१९०८-१९४४	३६
(१२)	बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री	१९०८-१९६१	५३
(१३)	पंडित भीमसेन शर्म्मा	१९११-१९७४	६३
(१४)	पंडित केशवराम भट्ट	१९११-१९६२	५१
(१५)	पंडित बदरीनारायण चौधरी	१९१२-१९८०	६८
(१६)	पंडित विनायक राव	१९१२-१९८१	६९
(१७)	पंडित प्रतापनारायण मिश्र	१९१३-१९५१	३८
(१८)	ठाकुर जगमोहनसिंह	१९१४-१९५६	४२

	जन्म निधन	आयु
(१९) रायबहादुर लाला सीताराम	१९१५-१९९३	७८
(२०) पंडित राधाचरण गोस्वामी	१९१५-१९५७	४२
(२१) पडित अंबिकादत्त व्यास	१९१५-१९५७	४२
(२२) पडित नाथूराम शकर शर्म्मा	१९१६-१९८९	७३
(२३) पडित दुर्गाप्रसाद मिश्र	१९१६-१९६७	५१
(२४) पडित गोविंदनारायण मिश्र	१९१६-१९८३	६४
(२५) बाबू रामकृष्ण वर्म्मा	१९१६-१९६३	४७
(२६) पडित श्रीधर पाठक	१९१६-१९८५	६९
(२७) महामहोपाध्याय पडित सुधाकर द्विवेदी	१९१७-१९६७	५०
(२८) बाबू शिवनदन सहाय	१९१७-१९८९	७२
(२९) बाबू देवकीनंदन खत्री	१९१८-१९७०	५२
(३०) पंडित लज्जाराम मेहता	१९२०-१९८८	६८
(३१) पडित महावीरप्रसाद द्विवेदी	१९२१-१९९५	७४
(३२) बाबू बालमुकुद गुप्त	१९२२-१९६४	४२
(३३) बाबू ठाकुरप्रसाद	१९२२-१९७४	५२
(३४) बाबू राधाकृष्णदास	१९२२-१९६४	४२
(३५) पडित किशोरीलाल गोस्वामी	१९२२-१९८९	६७
(३६) लाला भगवानदीन	१९२३-१९८७	६४
(३७) रायबहादुर डॉक्टर हीरालाल	१९२३-१९९१	६८
(३८) बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर	१९२३-१९८९	६६
(३९) पंडित शिवनाथ शर्म्मा	१९२४-१९८५	६०
(४०) राय देवीप्रसाद पूर्ण	१९२५-१९७२	४७
(४१) ठाकुर गदाधरसिंह	१९२६-१९७५	४९

	जन्म निधन	आयु
(४२) पंडित गगाप्रसाद अग्निहोत्री	१९२७-१९८८	६१
(४३) पडित माधवराव सप्रे	१९२८-१९८८	६
(४४) पडित माधवप्रसाद मिश्र	१९२८-१९६४	३६
(४५) पडित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी	१९३२-१९९६	६
(४६) पडित पद्मसिह शर्म्मा	१९३३-१९८९	५६
(४७) मुंशी प्रेमचद	१९३७-१९९३	५६
(४८) सरदार पूर्णसिह	१९३८-१९८८	५०
(४९) बाबू रामदास गौड	१९३८-१९९४	६४
(५०) पडित चद्रधर शर्म्मा गुलेरी	१९४०-१९७९	३९
(५१) बाबू जयशकरप्रसाद	१९४६-१९९४	४८

राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद।

हिंदी के निर्माता

(१) राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद

प्रसिद्ध रणथंभौरगढ मे धधार नाम का एक प्रमार राजा राज्य करता था। वह जैन-धर्मावलवी था। उसके पुत्र का नाम गोखरू था। हमारे राजा साहब इसी गोखरू गोत्र मे थे। बादशाही समय में इनके पूर्वज दिल्ली मे जौहरी का व्यवसाय करते थे। वे नादिर-शाही में दिल्ली से भागकर मुरशिदाबाद चले गए। नव्वाब कासिम-अली खाँ के अत्याचार से राजा शिवप्रसाद के पितामह राय डालचद काशी मे आ वसे।

इनके पुत्र वाबू गोपीचद थे जिनके पुत्र हमारे चरितनायक राजा शिवप्रसाद थे। राजा साहब का जन्म मिती माघ सुदी २ सवत् १८८० मे हुआ था। इनके घर की सब स्त्रियाँ पढ़ी-लिखी थी, इसलिये पाँच ही वर्ष के शैशव से राजा शिवप्रसाद की शिक्षा का प्रवध हो गया। पहले तो इन्होने घर पर ही कुछ हिंदी और उर्दू पढ़ी। फिर बीबी हटिया के स्कूल में फारसी का अध्ययन करने लगे। इसके पीछे सस्कृत का भी अभ्यास किया। जब राजा साहब की कोई १३ या १४ वर्ष की अवस्था थी तब कलकत्ते के फोर्ट विलियम कालेज के प्रोफेसर वावू तारणीचरण मित्र पेंशनर का काशी-निवास के निमित्त बनारस में आना हुआ। उनके पुत्रो से और किशोर राजा शिवप्रसाद

से घनिष्ठ मित्रता हो गई, और उन्ही से इन्होने अँगरेजी और बँगला भाषाएँ सीखी तथा १९ वर्ष की अवस्था मे संस्कृत, हिंदी, अरबी, फारसी, अँगरेजी और बँगला मे अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली।

इस प्रकार अपनी शिक्षा समाप्त कर चुकने पर अपने मामा की सहायता से बाबू शिवप्रसाद भरतपुर-दरबार में नौकर हुए। वहाँ जाते ही आपने पहला कार्य यह किया कि राज्य के दीवान को, जो कि राजा को दबाए और रियासत पर अपना प्रभुत्व जमाए हुए था, अँगरेज सरकार की अनुमति से ८० कायस्थो सहित जेल भिजवाया और महाराज को स्वतत्र कर दिया। इस कार्य से प्रसन्न होकर महाराज ने इन्हे अपना वकील नियुक्त किया। इस अवस्था में इन्होंने गवर्मेंट से लडाई के तकाजे के १८ लाख रुपये भरतपुर को माफ करवाए।

कुछ काल के पीछे ये भरतपुर की नौकरी छोडकर घर चले आए और फिर भरतपुर न गए। सन् १८४५ ई० मे राजा साहब ने अँगरेज सरकार की सेवा स्वीकार की। उस समय सिक्ख-युद्ध का आरभ था। ये अँगरेजी सेना के साथ सरहद पर गए और गवर्नर जनरल के आज्ञानुसार वहाँ इन्होने एक अत्यत साहस, वीरता और स्वामिभक्ति का यह काम किया कि अकेले शत्रुसेना मे जाकर वहाँ की तोपें गिन आए तथा और भी भेद ले आए। फिर आप ही अकेले महाराजा दिलीपसिंह को बबई तक पहुँचाकर जहाज पर सवार करा आए।

सिक्खों से सधि हो चुकने पर जब गवर्नर जनरल शिमले गए तब इन्हे भी साथ लेते गए और इन्हे एक पद-विशेष पर नियुक्त किया। वहाँ इन्होने बड़े परिश्रम से अपना काम किया जिससे ये दिन-

दिन अँगरेज कर्मचारियो के कृपापात्र होते गए। उसी कृपा के कारण राजा शिवप्रसाद ने वह सेवा और भक्ति की जो उनके जाननेवाले सब पुरुषो पर विदित है। आप सबके बुरे बने, पर अँगरेजो का पक्ष निबाहा। इनका मतव्य था "जिसका खाना उसका गाना।"

शिमले से आकर राजा साहब ने कुछ दिन काशी में कमिश्नर साहब के मीरमुशी का काम किया, परन्तु विद्या-विषयक रुचि के अनुसार सरकार ने उन्हे स्कूलो का इंस्पेक्टर नियत कर दिया। अपनी इस्पेक्टरी में राजा साहब ने मातृभाषा हिंदी का जो उपकार किया उसके लिए हिंदी बोलनेवालो को उनका कृतज्ञ होना चाहिए। उस समय शिक्षा-विभाग मे मुसलमानो का प्राबल्य था और वे चाहते थे कि हिंदी का पठन-पाठन ही उठा दिया जाय, केवल उर्दू-फारसी रहे। अँगरेज भी इस विषय में सहमत थे, क्योंकि हिंदी मे तब तक कोई ऐसी पुस्तकें न थी जो स्कूलो में पढाई जा सके। परतु राजा साहब ने हिंदी का पक्ष ग्रहण किया और स्वय उसमे अनेक ग्रथ रचकर उक्त अभाव को दूर किया तथा भाषा की शिक्षा को स्थिर रखा। उन्होने साहित्य, व्याकरण, भूगोल, इतिहास आदि विषयो पर सब मिलाकर कोई ३५ पुस्तके लिखी। आप बाबू हरिश्चद्र के विद्या-गुरु थे।

सन् १८७२ ई० में उन्हे सी० एस० आई० की उपाधि मिली और सन् १८८७ मे वशपरपरा के लिये "राजा" की पदवी प्राप्त हुई। आपका देहात ता० २३ मई सन् १८९५ को काशी मे हुआ।

राजा शिवप्रसाद उस हिंदी के समर्थक थे जो उर्दू-मिश्रित हो और सुगमता से देवनागरी और फारसी लिपियो में लिखी जा सके। जिस समय वे इस सिद्धात को स्थिर कर कार्यान्वित करने लगे उस समय की स्थिति ही कुछ ऐसी थी कि हिंदी की रक्षा के लिये उन्हें

यह करना पड़ा। उनका संपादित किया हुआ 'गुटका' वामामनोरंजन तथा राजा भोज का सपना, रानीभवानी आदि लेख इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि वे हृदय से शुद्ध हिंदी के पक्षपाती थे, पर स्थिति को देखते हुए उन्होंने मिश्रित भाषा का पक्ष ग्रहण किया और उसके समर्थन में लेख लिखे। जो कुछ हो, उनके मिश्रित भाषा का पक्ष ग्रहण करने से हिंदी और उर्दू का घोर द्वंद्व आरंभ हुआ। साधारण रूप से विचार करने पर तो यही कहा जा सकता है कि उस समय तक न तो व्याकरण के नियमों का ही निर्वाह दिखाई पड़ता था और न भाषा का ही कोई रूप स्थिर हो सका था। रचना का विकास अवश्य हो रहा था और पठन-पाठन के विचार से अनेक विषयों में गद्य की पहुँच आरंभ हो गई थी तथा अनेक विषयों पर पुस्तकें लिखने का आरंभ भी हो गया था। संभव है कि राजा साहब का यह विश्वास रहा हो कि उर्दूपन का बहिष्कार किया जायगा तो भाषा की व्यावहारिकता नष्ट हो जायगी और उसमें भावद्योतन का चमत्कार तथा बल न आ सकेगा। जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं राजा साहब की दोरंगी नीति से घोर आंदोलन मच गया जिसमें उनके उर्दू-मिश्रित भाषा के लिखने-लिखाने का उद्योग असफल रहा। यह सब होते हुए भी राजा साहब की हितकामना आदरणीय है।

(२) राजा लक्ष्मणसिंह

राजा लक्ष्मणसिंह यदुवंशी क्षत्रिय थे। अपनी जन्मभूमि आगरा में इनका जन्म ९ अक्टूबर सन् १८२६ ई० को हुआ।

वैसे तो घरवालों ने इनकी शिक्षा पर उसी समय से ध्यान दिया जब से ये तोतली जिह्वा से बोलने लगे थे परंतु पाँच वर्ष की

राजा लक्ष्मणसिंह।

अवस्था होने पर इन्हे विधिवत् विद्यारंभ कराया गया। जब इन्हें नागरी अक्षरो के लिखने का पूरा अभ्यास हो गया तब सस्कृत और फारसी की शिक्षा दी जाने लगी। ये तीव्रबुद्धि तो थे ही, बारह वर्ष की अवस्था तक इन्होने फारसी और सस्कृत दोनो भाषाओ में वय-अनुसार अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। बारह वर्ष की अवस्था मे यज्ञोपवीत हो जाने पर अँगरेजी भाषा की शिक्षा पाने के लिये इन्हे आगरा-कालेज मे बैठाया गया। उस समय अब की तरह बी० ए०, एम० ए० आदि की परीक्षाएँ न होती थी, केवल सीनियर, जूनियर परीक्षाएँ होती थी। अस्तु, हमारे चरितनायक ने सीनियर परीक्षा पास की। कालेज मे अँगरेजी के साथ इनकी दूसरी भाषा सस्कृत थी और घर पर ये हिंदी; अरबी और फारसी का अभ्यास किया करते थे। कालेज छोडने पर इन्होने बँगला भी सीख ली। इस भाँति २४ वर्ष की अवस्था मे इन्होने कई एक भाषाओ में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली।

राजा लक्ष्मणसिंह कालेज से निकलकर पश्चिमोत्तर प्रदेश के छोटे लाट के दफ्तर मे १००) मासिक वेतन पर अनुवाद करने के काम पर नौकर हुए। तीन वर्ष के पीछे इनका वेतन १५०) मासिक हुआ और ये सदर बोर्ड के दफ्तर मे नियत हुए। इसके दो वर्ष पीछे सन् १८५५ ई० मे इन्हे इटावे की तहसीलदारी मिली। उन दिनों इटावे मे ह्यूम साहब कलेक्टर थे। वे इनके गुणो पर मोहित होकर इनसे अत्यत प्रसन्न थे। अस्तु, उनकी सहायता से राजा साहब ने इटावे मे ह्यूम हाई स्कूल स्थापित किया जो कि अब तक विद्यमान है और जिससे प्रतिवर्ष अच्छे-अच्छे योग्य विद्यार्थी पास होते है। इनकी कार्य-प्रणाली से अत्यत प्रसन्न होकर ह्यूम साहब ने गवर्मेंट को

इनकी बड़ी प्रशसा लिखी जिससे गवर्मेंट ने इन्हें डिप्टी कलेक्टर बना दिया और बाँदे को बदली कर दी। यह सन् १८५६-५७ की बात है।

राजा साहब बाँदे से छुट्टी लेकर अपने घर आगरे को जा रहे थे कि उसी समय सिपाहियो का बलवा हो गया। जब आप इटावे के पास पहुँचे तब सुना कि यहाँ पर भी बडा उपद्रव मचा हुआ है। बस ये फौरन् ह्यूम साहब के पास पहुँचे और उनके कहने के अनुसार उन्होने बहुत-से अँगरेज बालको और मेमो को सकुशल आगरे के किले में पहुँचा दिया। घर पर पहुँच कर इन्होने राजपूतो का एक झुड बटोरा और उन्हें लेकर ये ह्यूम साहब की रक्षा को इटावे को जानेवाले थे कि तब तक वे स्वयं ही उनके घर पर आ गये। इन्होने उनको अपनी ही रक्षा मे रक्खा और जब दिल्ली को अधीन करके सरकारी फौज ने इटावे पर धावा किया तब इन्होने स्वय उस फौज का साथ दिया और वे लड़ाइयो में सम्मिलित रहे।

इस राजभक्ति के लिये इन्हे सरकार ने एरका का इलाका माफी देना चाहा परतु इन्होने नम्रतापूर्वक यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि हमने जो कुछ किया जातीय धर्म के अनुसार किया। इसमे पुरस्कार की क्या आवश्यकता? तब इन्हे पहले दरजे की डिप्टी कलेक्टरी दी गई और ८००) मासिक वेतन पर बुलदशहर को इनकी बदली हुई। यहाँ इन्होनें २० वर्ष काम किया और सन् १८८९ ई० में पेशन लेकर फिर वे अपनी जन्मभूमि आगरे में रहने लगे। सन् १८७० ई० के प्रथम दिल्ली-दरबार में इन्हें गवर्मेंट ने राजा की पदवी प्रदान की थी।

यद्यपि डिप्टी कलेक्टरी के कामो से इन्हें अवकाश बहुत कम मिलता था तो भी हिंदी की ओर इनका ऐसा प्रेम था कि जो समय बचता

उसे ये उसी की सेवा मे लगाते। इन्होंने गवर्मेंट की बहुतेरी पुस्तकों का अँगरेजी और फारसी से हिंदी में उल्था किया, जिनमे से एक ताजीरातहिंद का अनुवाद "दड-सग्रह" है। इन्होने बुलदशहर का एक इतिहास भी लिखा था जो कि हिंदी, उर्दू, अँगरेजी तीनो भाषाओं में छपा है। हिंदी-जगत् में आपका नाम अमर करनेवाले शकुतला, मेघदूत और रघुवश इन तीनो पुस्तको के भाषानुवाद हैं। इन पुस्तको के अनुवाद में इन्होने जो अपने पाडित्य का चमत्कार दिखलाया है वह किसी साहित्य-प्रेमी से छिपा नही है। भारतवर्ष तथा यूरोप के विद्वानो ने भी आपको हिंदी का अच्छा कवि माना है। इनकी लेखनी में यह विशेषता है कि इनके गद्य और पद्य दोनो मे भी शुद्ध हिंदी-शब्दो का प्रयोग हुआ है। फिर भी एक-एक पद सरस, सुपाठ्य और सरलता से भरा हुआ है। इनका देहात ६९ वर्ष की अवस्था मे ता० १४ जुलाई सन् १८९६ ई० मे हुआ।

यद्यपि ये राजा शिवप्रसाद से आयु मे केवल तीन वर्ष छोटे थे, पर हिंदी-उर्दू के तत्कालीन झगड़े में दोनो का पक्ष एक दूसरे से भिन्न था। राजा शिवप्रसाद मिश्रित भाषा के पक्षपाती थे और राजा लक्ष्मणसिंह शुद्ध हिंदी के समर्थक थे। एक ने अपने सिद्धात के समर्थन मे कई ग्रथ लिखे तथा लिखवाए और दूसरे ने यह बात दिखाने के लिये कि शुद्ध हिंदी में भी भाषा का सौष्ठव तथा भाव-द्योतन का सामर्थ्य है; शकुतला नाटक, मेघदूत तथा रघुवश का अनुवाद प्रकाशित किया। ये तीनो ग्रथ हिंदी के गौरवस्वरूप हैं। इनकी भाषा अत्यत सरल और पुष्ट है। साथ ही व्रजभाषा का पुट मिल जाने से उसकी मनोहरता और भी बढ गई है। आधुनिक हिंदी-गद्य के विकास में राजा लक्ष्मणसिंह की कृतियाँ एक विशेष

परिवर्तन की सूचक है। इन्ही की प्रणाली को ग्रहण कर भारतेंदु हरिश्चद्र ने जो युग-परिवर्तक कार्य किया उसका सूत्रपात करने का श्रेय राजा लक्ष्मणसिंह को है। यद्यपि उनके समय मे हिंदी-गद्य का रूप स्थिर नही हुआ था, पर राजा लक्ष्मणसिंह उस अंधकार-युग में एक देदीप्यमान नक्षत्र की भाँति पथ-प्रदर्शन का कार्य कर गए हैं। उनके शकुतला नाटक का अनुवाद पहले गद्य मे निकला था, पीछे से सस्कृत-श्लोको का अनुवाद पद्य मे दिया गया और उसका उल्था गद्य मे पाद-टिप्पणी के रूप मे छपा। यह व्यवस्था मेघदूत के अनुवाद मे भी रही। रघुवश का अनुवाद गद्य मे है। शकुतला का एक वढिया सस्करण मिस्टर फ्रेडरिक विनकाट के सपादकत्व मे लडन मे भी टिप्पणियो के साथ छपा था।

(३) बाबू नवीनचंद्र राय

सन् ईसवी की उन्नीसवी शताब्दी के आरभ मे अँगरेज सरकार ने कुछ वगाली वावुओ को अपने काम से पजाब को भेजा। उनमें से राढीय श्रेणी के ब्राह्मण एक राममोहन राय थे जो बर्दवान जिले के रहनेवाले थे।

वावू नवीनचद्र राय उक्त राममोहन राय के पुत्र थे। इनका जन्म ता० २० फरवरी सन् १८३८ ई० को हुआ था। जब इनकी अवस्था केवल डेढ वर्ष की थी, इनके पिता का स्वर्गवास हो गया और इनके भरण-पोषण का भार केवल इनकी विधवा माता पर रहा। कुछ वडे होने पर इन्होने बँगला भाषा में रामायण पढना सीख लिया। इनके घर के पास एक और वगाली बाबू रहते थे। वे नित्य इनसे रामायण का पाठ सुनते और रोज कुछ पैसे

बाबू नवीनचंद्र राय।

इन्हे दे दिया करते थे, जिन्हे ये अपने विद्याध्ययन में खर्चते थे। खास मेरठ मे कोई शिक्षा का उत्तम प्रबंध न था। जब इनकी अवस्था ९ वर्ष की हो गई तब मेरठ से तीन-चार कोस पर सर्धना के स्कूल मे ये पढने के लिये जाने लगे। इनका विद्याध्ययन की ओर असाधारण अनुराग इसी से प्रकट होता है कि उस किशोर अवस्था में ये नित्य तीन-चार कोस जाते और आते थे।

इनकी आर्थिक अवस्था बहुत ही शोचनीय थी, इसलिये इन्होने १२ वर्ष की अवस्था मे सर्धना मे सोलह रुपया मासिक पर नौकरी कर ली, परतु जब इन्होने देखा कि यदि इजीनियरिंग का अभ्यास कर लिया जाय तो कुछ अधिक वेतन मिल सकता है तो इन्होने गणित का अभ्यास किया और थोडे ही दिनो मे परीक्षा पास करके वे पचास रुपया मासिक वेतन पाने लगे। इसी प्रकार इन्होने अपने कठिन परिश्रम और अपनी कार्यनिपुणता से अपनी आय सोलह रुपया से लेकर सात सौ रुपया मासिक तक बढाई। नवीनचद्र राय ने केवल अपनी आर्थिक अवस्था ही नही सुधारी वरन इसी के साथ-साथ उन्होंने अपनी आध्यात्मिक उन्नति भी अच्छी की। विद्या से इन्हे विशेष प्रेम था। इन्होने केवल अपने परिश्रम से अँगरेजी, हिदी, उर्दू, फारसी और संस्कृत मे असीम योग्यता प्राप्त कर ली और विविध भाषाओ मे विविध विषयो के ग्रथो को पढकर मनुष्य जीवन-सबधी यावत् धार्मिक तत्त्वो का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। बाबू नवीनचद्र राय, योगी, सन्यासी, फकीर, पडित, मौलवी, पादरी आदि सब मतो के धार्मिक पुरुषो से मिलते और धर्म के तत्त्वो की जाँच किया करते थे। अत मे इन्होने एक परब्रह्म परमात्मा को ही सबका नियता मानकर उसी पर अपनी श्रद्धा और भक्ति स्थिर की।

बाबू नवीनचद्र राय जैसे सब विषयों के प्रसिद्ध पडित थे वैसे ही सदाचारी, जितेंद्रिय और दानशील भी थे। वे सदा दीन-दुखी लोगो की सहायता करने और शिक्षा का प्रचार करके देशहित करने मे तत्पर रहते थे। पजाब मे स्त्री-शिक्षा का बीज बोनेवाले ये ही महाशय है। लाहौर मे सबसे पुराना नार्मल फीमेल स्कूल इन्ही का स्थापित किया हुआ है। इन्होने लाहौर मे सद्विषयो पर वार्तालाप करने के उद्देश्य से एक सत्सभा खोली थी। पजाब-विश्वविद्यालय और ओरिएटल कालेज के आप प्रधान व्यवस्थापक थे। पजाब-युनिवर्सिटी के फेलो भी थे और कई वर्ष तक इन्होने आफिशियेटिंग रजिस्ट्रार तथा प्रिंसिपल का काम भी किया था।

शिक्षा-विभाग से घनिष्ठ सबध होने पर इन्होने सस्कृत और हिंदी-भाषा मे अच्छी अच्छी पुस्तको की रचना की जिनमे से बहुतेरी पुस्तके बहुत दिनो तक पजाब-युनिवर्सिटी मे पढाई जाती थी और कुछ का अब तक उपयोग होता है।

इन्होने हिंदी मे ज्ञान-प्रदायिनी पत्रिका निकाली थी और सोशल-रिफार्म-सबधी कई पत्र निकाले और विधवा-विवाह पर एक पुस्तक रची थी। ये अपने अनुष्ठान के बडे दृढ और पूरे परोपकारी पुरुष थे। इन्होने गरीबो को औषधि देने के लिए निज के कई दवाखाने खोले थे, तथा ये जनसमुदाय के उपकार के अनेक कामो मे सदा दत्तचित्त रहते थे। परिश्रमी तो इतने थे कि वृद्धावस्था मे भी नवीन विषयो को सीखते समय पाठशाला में पढनेवाले बच्चो का-सा परिश्रम करते थे। इनका सिद्धांत यह था कि ज्ञान और विद्या के समुद्र का पारावार नही है इसलिये मनुष्य को यावज्जीवन विद्योपार्जन मे परिश्रम करना चाहिए।

पंडित बालकृष्ण भट्ट ।

सन् १८८० ई० मे इन्होंने सरकार से पेंशन ले ली और रतलाम रियासत के दीवान हुए, पर वहाँ से शीघ्र लौट आए और खंडवे के पास एक गाँव बसाकर उसी मे रहने लगे। इस गाँव का नाम इन्होंने ब्रह्मगाँव रक्खा था क्योकि इसमे अधिकतर ब्राह्मण ही बसाए गए थे। सन् १८९० ई० मे इनका परलोकवास हुआ।

पजाब मे बालिका शिक्षा के साथ हिंदी के प्रचार का श्रेय राय महाशय को प्राप्त है। जिस प्रकार पश्चिमोत्तर प्रदेश के शिक्षा-प्रसार मे राजा शिवप्रसाद का हाथ रहा उसी प्रकार पजाब मे राय महाशय का था। वे शुद्ध हिंदी के समर्थक थे। इनके बनाए हिंदी-ग्रथो में ये उल्लेखनीय हैं—नवीनचद्रोदय, सरल व्याकरण, निर्माणविद्या भाग १, २, ३, जलगति, जलस्थिति, वायुकतत्त्व, स्थितितत्त्व, गतितत्त्व, सद्धर्मसूत्र, शब्दोच्चारण, लक्ष्मी-सरस्वती-सवाद, उपनिषत्सार, तत्त्वबोध, लघुव्याकरण।

(४) पंडित बालकृष्ण भट्ट

पंडित बालकृष्ण भट्ट के पूर्वपुरुष मालवा देश के निवासी थे। परतु वे किसी कारण-विशेष से कालपी के पास बेतवा नदी के किनारे जटकरी गाँव मे आ बसे। पडित जी के प्रपितामह श्याम जी एक चतुर और विद्वान् पुरुष थे। वे राजा साहब कुलपहाड के यहाँ एक उच्च पद पर नौकर हो गए। उनके दो स्त्रियाँ थी जिनसे पाँच पुत्र उत्पन्न हुए। वे अपने सबसे छोटे पुत्र बिहारीलाल पर अधिक स्नेह रखते थे, इसलिये अत समय अपनी सब सपत्ति का अधिकार उन्ही को दे गए। पडित बिहारीलाल जटकरी से आकर प्रयाग मे रहने लगे। इनके जानकीप्रसाद और बेणीप्रसाद दो पुत्र हुए। पंडित बाल-

कृष्ण जी वेणीप्रसाद जी के पुत्र थे। वे स्वय पढ़े-लिखे तो बहुत न थे पर इस ओर उनके चित्त की प्रवृत्ति और रुचि विशेष थी।

पडित बालकृष्ण भट्ट का जन्म सवत् १९०१ मे हुआ था। इनकी माता बडी विदुषी थी इसलिये इन्हे जन्म से ही विद्याध्ययन का व्यसन लग गया। कुछ बडे होने पर इनके पिता और चाचा आदि ने चाहा कि यह बालक दुकानदारी के काम मे दत्तचित्त होकर व्यापार-कुशल हो। परतु ये उस ओर ध्यान नही देते थे और पढ़ने-लिखने मे लगे रहते थे। ऊपर से माता का यही अनुशासन था कि बेटा तुम खूब पढो। तदनुसार ये पन्द्रह-सोलह वर्ष की अवस्था तक सस्कृत पढते रहे।

सन् ५७ के गदर के पश्चात् देश मे अँगरेजी राज्य का दबदबा होने से अँगरेजी भाषा का मान बढने लगा। इनकी चतुरा और दूरदर्शिनी माता ने भी इन्हे अँगरेजी पढने की प्रेरणा की। माता की आज्ञा मानकर ये एक मिशन-स्कूल मे भर्ती हो गए। वहाँ इन्होने एट्रेस तक शिक्षा पाई और बाइबिल की परीक्षा मे कई बार इनाम भी पाया। पर इससे यह न समझना चाहिए कि इनकी धार्मिक श्रद्धा मे भी कुछ बट्टा लगा। ये अपने हिंदू-धर्म पर हृदय से दृढ थे और इसी कारण उस स्कूल के पादरी हेड मास्टर से वादविवाद हो जाने पर इन्होने स्कूल छोड दिया।

मिशन स्कूल छोडकर ये पुन सस्कृत का अध्ययन करने लगे। व्याकरण और साहित्य का खूब मनन किया। इसी बीच में ये, जमुना मिशन स्कूल म अध्यापक हो गये परतु अपने धर्म के अटल पक्ष-पाती होने के कारण इन्हे यह अध्यापकत्व भी छोडना पडा।

स्वतंत्रता की धुन सवार होने के कारण ये बहुत दिनो तक बेकार बैठे रहे, परतु इसी बीच मे जब इनका विवाह हो गया तब कमाने की चिंता हुई और कोई अच्छा व्यापार करने की इच्छा मे ये कलकत्ता चले गए, परतु शीघ्र ही लौट आए। कलकत्ते से आकर ये पहले की तरह हाथ पर हाथ रखकर बैठे न रहे-वरन अपने अमूल्य समय को सस्कृत-साहित्य के अध्ययन और हिंदी-साहित्य की सेवा मे बिताने लगे। उस समय के समस्त साप्ताहिक और मासिक हिंदी-पत्रो मे लेख लिख-लिखकर ये भेजने लगे।

इसी समय प्रयाग के कई शिक्षित युवको ने सन् १८७७ ई० में हिंदी-प्रवर्द्धिनी नाम की एक सभा स्थापित की और निश्चय किया कि प्रति सभासद से पाँच-पाँच रुपया चदा इकट्ठा करके एक मासिक पत्र प्रकाशित किया जाय, तदनुसार "हिंदी-प्रदीप" का जन्म हुआ और भट्ट जी उसके संपादक हुए। जब "हिंदी-प्रदीप" का प्रकाश हुआ उन्ही दिनो में सरकार ने प्रेसएक्ट पास किया जिससे भयभीत होकर "हिंदी-प्रदीप" के अन्य हितैषियो ने तो उससे नाता तक तोड दिया परतु इन्होने उसे हवा भी न लगने दी और ३२ वर्ष तक उसका सपादन करते रहे। मातृ-भाषा की ओर अविचल भक्ति के कारण ये उसे चलाते रहे।

बाबू हरिश्चद्र कहा करते थे कि हमारे बाद दूसरा नबर भट्ट जी का है सो ठीक ही था। इनके लिखे हुए कलिराज की सभा, रेल का विकट खेल, बालविवाह नाटक, सौ अजान एक सुजान, नूतन ब्रह्मचारी, जैसा काम वैसा परिणाम, आचारविडबना, भाग्य की परख, षड्दर्शनसग्रह का भाषानुवाद, गीता और सप्तशती की समालोचना आदि लेख देखने ही योग्य है। हिंदी-प्रदीप तो आपके फुटकर लेखो

का भाडार है। इनके अतिरिक्त पद्मावती, शर्मिष्ठा और चंद्रसेन नाटक भी आपके लिखे है।

पडित बालकृष्ण जी हिंदी के एक सच्चे हितेच्छु और अच्छे लेखक थे। आप स्वभाव के सादे सत्यप्रिय सज्जन थे। बडे हँसमुख भी थे। आप सनातन-धर्म के अनुयायी थे, पर अधपरपरा के पक्षपाती नही थे। आपने कई वर्षों तक प्रयाग की कायस्थ-पाठशाला मे सस्कृत के अध्यापक का काम किया था। कायस्थ-पाठशाला से सबध छूटने के कुछ काल अनतर हिंदी-प्रदीप भी बद हो गया। कुछ समय तक आप काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के "हिंदी-शब्दसागर" नाम के कोष के सपादन कार्य मे योग देते रहे। पर वार्धक्य अधिक बढ जाने के कारण तथा अस्वस्थता से उन्हे यह काम छोडना पडा। आपका देहान्त श्रावणकृष्णा १३ सवत् १९७१ को प्रयाग में हुआ।

भट्ट जी हिंदी के इने-गिने निबध-लेखको मे है। उनकी शैली मे व्यग्य और वक्रता की मात्रा अधिक रहती थी। उनका स्वभाव कुछ चिडचिडा था। उसी का प्रतिबिंब उनके लेखो में मिलता है। मुहावरो का प्रयोग भी वे प्राय करते थे। अँगरेजी, फारसी के शब्दो का भी प्रयोग वे बीच-बीच में निस्सकोच भाव से करते थे। यद्यपि उनकी भाषा पुष्ट थी, पर कही-कही पूर्वीपन देख पडता है। उनके वाक्य कुछ बडे होते थे, पर लेख प्राय: दो-तीन पृष्ठो से अधिक नही होते थे। ऐसा जान पडता है कि उनके मन मे कोई भाव उदय हुआ और उस आवेश मे आकर जितना बन पडा अपने सचित ज्ञानभाडार के आधार पर लिख डाला। इसमे सदेह नही कि वे हरिश्चद्र-काल के उज्ज्वल निबध-लेखको मे थे। उन्होने बहुत कुछ हानि उठाकर भी हिंदी की सतत-सेवा की है।

बाबू तोताराम।

(५) बाबू तोताराम

बाबू तोताराम जी कायस्थ थे । इनका जन्म श्रावणशुक्ला १० संवत् १९०४ को हुआ था। इनके पिता लाला ज्ञानचंद, सासनी स्टेशन के पास नगलासिंह मे रहते थे, पर फिर ये गौहाना मे जा बसे और यही पर एक मदरसा स्थापित किया।

यद्यपि अलीगढ के जिले मे उर्दू और फारसी का अधिक प्रचार होने के कारण बाबू तोताराम के घर के सब लोग उर्दू-फ़ारसी में ही प्रवीण थे परंतु इनकी घर की भाषा हिंदी थी और घर की स्त्रियो तक को हिंदी मे रामायण पढने का अभ्यास था । इसी से इन्हें आरंभ में हिंदी की शिक्षा दी गई। इन्होने अध्ययन मे ऐसी तीव्रता दिखलाई कि साल भर मे ही साधारण गणित और लिखने-पढने योग्य हिंदी सीख ली। तब इनके पिता ने इन्हे सासनी के सरकारी स्कूल मे बिठाया। वहाँ की पढाई भी इन्होने लगे हाथो समाप्त की और अँगरेज़ी भाषा की शिक्षा पाने के लिए अलीगढ़ के उस स्कूल मे जा भरती हुए जो पीछे से अलीगढ कालेज के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

यहाँ यह भी कह देना आवश्यक है कि इनके प्रारंभिक विद्या-गुरु पंडित क्षेम जी बड़े शांतिशील सज्जन और धर्म मे श्रद्धावान् साधु पुरुष थे। बडे होने पर बाबू तोताराम जी भी वैसे ही हुए। घर से बाहर एक आलीशान शहर मे स्वतंत्र रहते हुए भी इनके आठो पहर विद्याध्ययन में व्यतीत होते थे। सन् १८६३ मे इन्होने एंट्रेंस पास कर लिया और आगे पढने के लिये आगरे के सेंट जान्स कालेज मे भरती हुए। यहाँ आप जिस समय बी० ए० क्लास मे पढ रहे थे उसी समय

इनके पिता का देहांत हो गया। साथ ही आँखो में भी कुछ रोग हो गया जिससे इन्हे डाक्टर के कहने से पढना छोड देना पड़ा।

पढना छोड़ देने के थोडे ही दिन पीछे आप फतहगढ स्कूल के हेडमास्टर नियत हुए और फिर आपकी बनारस को बदली हो गई। यहाँ इनका हिंदी-प्रेम और भी बढ गया। इन्होने यहाँ "केटो-कृतात" नामक पुस्तक हिंदी मे लिखी। फिर बँगला, गुजराती, महाराष्ट्री आदि भाषाओ का अध्ययन किया और कानून पास करके नौकरी से इस्तीफा दे दिया।

इस प्रकार सेवा-वृत्ति से स्वतत्र होकर इन्होने सन् १८७७ ई० मे अलीगढ मे अपना छापाखाना खोला और वही से भारत-बधु नामक हिंदी का साप्ताहिक पत्र निकाला। इसके दूसरे वर्ष इन्होंने सयुक्त-प्रात के छोटे लाट की सहायता से लायल-लाइब्रेरी नामक पुस्तकालय स्थापित किया।

बाबू तोताराम जी हिंदी-भाषा के अनन्य शुभचिंतक थे, इस विषय मे इन्होने यथासाध्य परिश्रम किया। इन्होने एक भाषा-सर्वाद्धनी सभा स्थापित की थी जिसका यह उद्देश्य था कि हिंदी-भाषा की अच्छी-अच्छी पुस्तके छपाकर सस्ते मूल्य पर बेची जायँ। इन्होने स्वय कई पुस्तके लिखकर सभा के समर्पण की थीं जिनमे से एक स्त्री-सुबोधिनी है। आप अलीगढ की प्रदर्शिनी मे लिपि-विभाग के मत्री थे। अस्तु, आपने हिंदी-लिपिवालो को अच्छे-अच्छे इनाम दिलाकर उनका उत्साह दुगुना किया और इसी तरह जब हिंदी-भाषा की ओर से सर एटनी मेक्डानल के यहाँ डेपुटेशन जानेवाला था तो आपने कायस्थ-कांनफरेस के सभापतित्व मे ६,००० कायस्थो को हिंदी के पक्ष मे सम्मति देने पर उदयत किया था।
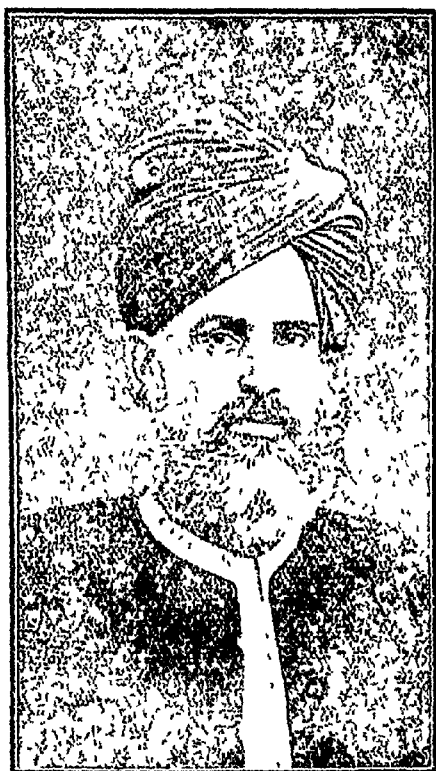
मुंशी देवीप्रसाद।

इन्होने 'राम-रामायण' नाम से वाल्मीकीय रामायण का भाषा-पद्यानुवाद करना आरंभ किया था, परंतु खेद है कि इनका यह कार्य पूरा न हो सका। इन्होंने संस्कृत की अनेक पुस्तकों का अनुवाद करके या करा के नवलकिशोर और व्यंकटेश्वर आदि प्रेसों मे छपवाया था।

बाबू तोताराम जी जैसे मातृभाषा के प्रेमी और धार्मिक पुरुष थे वैसे ही सच्चे देश-हितैषी और समाज-प्रिय भी थे। इन्होंने समय समय पर अकाल-पीड़ित प्रजा की सहायता की। जिस समय आगरा कालेज टूटकर अलीगढ़ कालेज में मिलाया जानेवाला था उस समय इन्होंने उसे बचा लिया। इसी प्रकार आपने देश-हितकर अनेक काम किए।

आप वैष्णव-धर्मावलंबी थे, परंतु स्वामी दयानंद जी के भी बड़े भक्त थे। आप बड़े सदाचारी और सुशीलता के तो आदर्श थे। आपका देहांत ता० ७ दिसंबर सन् १९०२ को हुआ।

आपकी भाषा में कोई विशेषता नहीं है। वह सीधी-सादी है, पर साथ ही पुष्ट तथा शुद्ध है। आपने हिंदी मे ग्रंथ-रचना करने का उतना उद्योग नहीं किया जितना उसके प्रचार और विस्तार का।

(६) मुंशी देवीप्रसाद

मुंशी देवीप्रसाद जी का जन्म माघशुक्ला १४ शुक्रवार संवत् १९०४ को हुआ था। आपके पिता का नाम मुंशी नत्थनलाल और दादा का नाम मुंशी कृष्णचंद था। आप कायस्थ-कुल में उत्पन्न हुए थे। यद्यपि अधिकांश कायस्थ हिंदी के विरोधी और उर्दू-फारसी के पक्षपाती

होते है परन्तु सौभाग्यवश आप उन लोगो में नही थे। आपके पूर्वज मुसलमानी राज्यो से सबंध रखने के कारण फारसी-सेवी थे। आपके दादा नवाब अमीर खाँ के साथ टोक मे रहते थे। उसी समय आपके पिता नवाब के एक बेटे के साथ मुंशी होकर अजमेर गए थे। रईस की मृत्यु के बाद वे ख्वाजा साहब की दरगाह के नायब नियत हुए। उन्हे दोनो स्थानो मे ही उर्दू और फारसी का काम पड़ता था। मुंशी जी की बाल्यावस्था मे उनकी परदादी, दादा, दादी, पिता और माता पाँचो ही वर्तमान थे। परतु इनमे से केवल इनके पिता और माता ही को हिंदी का कुछ कुछ अभ्यास था। शेष लोग केवल उर्दू और फारसी ही जानते थे। इन्होने अपने पिता से उर्दू और फारसी तथा अपनी माता से साधारण हिंदी सीखी। १६ वर्ष की अवस्था मे अरबी और फारसी का थोडा बहुत अभ्यास कर चुकने पर पिता जी ने इन्हें हिंदी के भी दो ग्रथ पढ़ाए। उसी समय संवत् १९२० में ये रियासत टोक मे, और तदुपरात अजमेर मे नौकर हो गए, जहाँ ये सवत् १९३५ तक रहे। इन दोनो स्थानो में आपको केवल उर्दू और फारसी ही का काम करना पड़ता था। इसके पीछे सवत् १९३६ से आप जोधपुर मे नौकर हो गए।

जिस समय आप टोक मे नौकर थे उस समय आपने उर्दू में "ख्वाब राजस्थान" नामक एक पुस्तक लिखी थी जिसका "स्वप्न राजस्थान" नामक हिंदी-अनुवाद भी आपने पीछे से कर डाला था। इस पुस्तक के उर्दू-सस्करण मे प्रसगवश प्रजाहित के विचार से आपने हिंदी-दफ्तरो की आवश्यकता बतलाई थी, जिसके कारण आपको अपने कई सजातीय मित्रो के ताने सहने पड़े थे। जिस समय आप जोधपुर मे नौकर हुए उस समय वहाँ की अदालतो का काम उर्दू

मे और माल, खजाना, फौज और वाहर की कचहरियो का काम हिंदी मे होता था। उस समय महाराजाधिराज करनल सर प्रतापसिंह जी० सी० एस० आई० जोधपुर के प्रधान मत्री और अपील-आला के चीफ जज थे। उन्ही के दफ्तर मे आपको हिंदी कागजो का उर्दू-अनुवाद करके उन्हे आज्ञा के लिय प्रधान मत्री के सामने उपस्थित करने का काम मिला था। यद्यपि महाराज प्रतापसिंह हिंदी के पक्षपाती थे और अपने दफ्तर हिंदी मे करना चाहते थे किंतु महाराज जसवंत-सिंह के पास मुसलमानो का जमघट अधिक था, इसलिये दफ्तर पूर्व-वत् उर्दू मे ही रहे। धीरे-धीरे ४-५ वर्ष पीछे हिंदी को भी वहाँ स्थान मिलने लगा और फैसले आदि हिंदी मे लिखे जाने लगे, यहाँ तक कि एक दिन रात को अर्जियाँ सुनते समय उर्दू की ५०-६० अर्जियाँ महाराज प्रतापसिंह ने मुशी देवीप्रसाद से फडवा डाली। उस दिन से वहाँ के सब काम हिंदी मे होने लगे। जव उर्दू का स्थान हिंदी को मिला तव एक वार फिर मुशी जी के मित्रो ने उन पर अनेक प्रकार के आक्षेप किए और सव उत्पातो की जड इन्ही को वतलाया।

हिंदी का आपको पहले ही से अभ्यास था, यहाँ उसका काम और भी वढ गया और उसके कारण आपकी प्रतिष्ठा और उन्नति भी हुई। इसके पीछे एक गुजराती सज्जन होम सेक्रेटरी हुए जिन्होने हिंदी न जानने और मुशी जी के विश्वसनीय और परिश्रमी होने के कारण अपने अधिकाश कार्यो का भार आप पर ही छोड़ दिया। कुछ दिनो पीछे कविराज मुरारीदान अपील-आला के निरीक्षक हुए। दोनो सज्जनो के हिंदी-प्रेमी होने के कारण कुछ समय तक इन लोगों में परस्पर अच्छी वनी। सवत् १९४० मे जव मुशी हरदयालसिंह जी प्रधान मत्री के सेक्रेटरी हुए तो आप उनकी सहायता देने के

लिये नियुक्त किए गए। मुशी हरदयालसिंह जी ने राज्य मे बहुत-से सुधार किए थे, नये नियमादि बनाए थे, मनुष्य-गणना की थी तथा अन्य उपयोगी कार्य बहुत योग्यता से किए थे। उन सबमे मुशी देवीप्रसाद जी ने बहुत अधिक सहायता दी थी, जिसके लिये वहाँ के उच्च अधिकारियो ने आपकी बहुत अधिक प्रशसा की थी। मनुष्य-गणना का काम योग्यतापूर्वक करने के कारण आपको ५००) पारितोषिक और एक प्रशसापत्र भी मिला था। उसी समय १००) मासिक पर आप मुसिफ बना दिए गए और आपको ५००) तक के दीवानी मुकद्दमो के सुनने का अधिकार दिया गया। इस काम को भी आपने बहुत योग्यतापूर्वक सपादन करके उच्च अधिकारियो को बहुत प्रसन्न किया। अत मे आप महकमे तवारीख के मेबर हुए और आर्कियालोजिकल विभाग का कुछ काम करते थे।

मुशी देवीप्रसाद प्राचीन इतिहास के बहुत अच्छे ज्ञाता थे। इन्होंने इस विषय पर हिंदी और उर्दू में प्राय ५०—६० ग्रथ लिखे है। जो ऐतिहासिक दृष्टि से बडे महत्त्व के समझे जाते है। आपकी लिखी हिंदी-पुस्तको में मुसलमान बादशाहो तथा राजपूताने के बहुत-से वीर महाराजाओ के जीवनचरित बहुत प्रसिद्ध है। पहले पहल सन् १८७५ में आपने मारवाड का जो इतिहास लिखा था उसके लिये पश्चिमोत्तर प्रदेश (वर्तमान सयुक्त-प्रात) की सरकार ने आपको ३००) पारितोषिक दिया था। इसके अतिरिक्त नीति और स्त्री-शिक्षा-सबधी कई पुस्तको के लिये आपको और भी कई पुरस्कार तथा प्रशसापत्र आदि मिले थे।

इनके लिखे ऐतिहासिक जीवनचरित ये है:—अकबर, शाहजहाँ, हुमायूँ, तुहमास्प (ईरान का शाह), बाबर, शेरशाह, राणा सागा,

रत्नसिंह, विक्रमादित्य (चित्तौर), बनवीर, उदयसिंह, प्रतापसिंह, पृथ्वीराज (जयपुर), पूरणमल, आसकरण, राजसिंह (जयपुर), भागमल, भगवानदास, मानसिंह, बीका जी, नराजी, लूणकरण, जैतसी, कल्याणमल, मालदेव, बीरबल (दो भाग), मीराबाई, जसवंत-सिंह (मारवाड), खानखाना, औरंगजेब ।

इन ३० जीवनियों के अतिरिक्त मुंशी जी ने ये ग्रंथ और लिखे या संपादित किए हैं ---

जसवंतस्वर्गवास, सरदारसुखसमाचार, विद्यार्थी-विनोद, स्वप्न-राजस्थान, मारवाड का भूगोल तथा नकशा, प्राचीन कवि, बीकानेर-राजपुस्तकालय, इंसाफसंग्रह, नारीनवरत्न, महिलामृदुवाणी, मारवाड के प्राचीन शिलालेखो का संग्रह, सिंध का प्राचीन इतिहास, यवनराजवंशावली, मुगलवंशावली, युवतीयोग्यता, कविरत्नमाला, अरबी भाषा मे संस्कृतग्रंथ, रूठी रानी, परिहारवंशप्रकाश, परिहारों का इतिहास ।

मुंशी जी की भाषा सीधी-सादी व्यवस्थित होती थी । सत्य घटनाओं की खोज कर उन्हे लिपिबद्ध करना ही उनका उद्देश्य रहा । मुंशी जी के पास अनेक ऐतिहासिक वस्तुओं का संग्रह था, जिसे मारवाड-दरबार ने उनकी मृत्यु के अनंतर अपनी संरक्षणता मे ले लिया ।

उन्होंने हिंदी मे ऐतिहासिक पुस्तके प्रकाशित करने के लिये काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा को इंपीरियल बैंक के ७ हिस्सो का दान दिया है । इससे प्रतिवर्ष लगभग ५००) की आय होती है । इस धन से देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तक-माला निकलती है जिसने अब तक कई अच्छे-अच्छे ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं ।

मुशी जी का देहावसान १५ जुलाई, सन् १९२३ (स० १९८०) को जोधपुर में हुआ।

(७) राजा रामपालसिंह

राजा साहब का जन्म एक प्रसिद्ध और प्रतापी राजकुल मे हुआ था। आप अवध प्रात के अतर्गत प्रतापगढ के तअल्लुकेदार मृत राजा हनुमतसिंह जी के ज्येष्ठ पुत्र श्री लालप्रतापसिंह जी के इकलौते पुत्र थे। आपका जन्म सवत् १९०५ की भादों सुदी ४ को हुआ।

राजा साहब बाल्यावस्था ही से अत्यत तीव्रबुद्धि और चचल-स्वभाव के थे; पर साथ ही विद्याध्ययन मे अनुराग भी स्वाभाविक था। आपने सात वर्ष की अवस्था मे हिंदी मे पूर्णरूप मे योग्यता प्राप्त कर ली थी। नागरी पढ लेने पर आपने फारसी का अध्ययन आरभ किया और पाँच वर्ष मे फारसी मे पूर्ण योग्यता प्राप्त करके अँगरेजी और सस्कृत का अध्ययन आरभ किया।

इसमे भी राजा साहब ने अभ्यास और बुद्धिबल से पाँच-छ वर्ष मे ऐसी योग्यता प्राप्त कर ली कि आप सस्कृत के क्लिष्ट और गूढ छदों का मर्म समझने और अँगरेजी मे वार्तालाप करने लगे थे।

भिन्न-भिन्न भाषाओ के और भिन्न-भिन्न मतमतातरो से सबध रखनेवाले ग्रथो को पढकर राजा साहब के हृदय मे नवीन सभ्यता ने स्थान प्राप्त कर लिया। इसलिये वे एकमात्र परमात्मा को अपना आराध्य देव मानकर पुरानी लकीर के फकीर रहने के विरुद्ध हो गए। इससे इनके सब सबधी और इनके पितामह राजा हनुमतसिह जी स्वय इनसे अप्रसन्न हो गए। परतु इन्होंने किसी की ओर ध्यान न

राजा रामपालसिंह ।

दिया और अपने सिद्धांत पर दृढ रहे। १८ वर्ष की अवस्था मे इन्होने आनरेरी मजिस्ट्रेटी स्वीकार की और इसके अनतर मध्यम और उच्च श्रेणी की परीक्षाओ को पास किया। राजा साहब एक न्यायशील और देशहितैषी पुरुष थे। इसलिये अदूरदर्शी लोगो की दृष्टि में कुछ खटकने लगे।

अस्तु, राजा साहब ने इँगलैंड जाने की इच्छा प्रकट की, स पर भी पुराने विचार के लोगो ने असम्मति प्रकट की परतु आपको तो उस उन्नतिशाली देश की सामाजिक, राजनीतिक और व्यापारिक अवस्था का ज्ञान प्राप्त करने की धुन सवार थी। इसलिये आपने इँगलैंड की यात्रा की। आपकी पतिव्रता धर्मपत्नी भी आपके साथ गईं। परंतु दो वर्ष इँगलैंड में रहने पर आपकी धर्मपत्नी का शरीरपात हो गया। तब आपने एक अँगरेजी रमणी से विवाह किया और घर को लौट आए। परतु थोडे ही दिन कालाकाँकर मे रहकर आप पुन. इँगलैंड को चले गए और वहाँ जर्मन, फ्रेच, लेटिन आदि भाषाओ और गणित का अभ्यास करने लगे। आपने अपने देश की सेवा करने की च्छा से सन् १८८३ में वहाँ अँगरेजी-हिंदी मे "हिंदोस्थान" नाम का पत्र निकाला और उसके द्वारा इँगलैंडवासी लोगो को इस देश की दशा का वास्तविक परिचय देने लगे। इसके अतिरिक्त आप वहाँ की प्रत्येक सभा-सोसायटी मे जाते और मनोहर व्याख्यान-द्वारा इस देश-वासियो के दुख-सुख की कथा सुनाते थे।

उस समय इस देश के जो विद्यार्थी इँगलैंड मे विद्याध्ययन करने जाते थे राजा साहब उन सबका बडा सत्कार करते थे। उन्हें अपने यहाँ बुलाते, समय समय पर भोज देते और उनके पठन-पाठन मे यथासाध्य आर्थिक सहायता भी करते थे। सन् १८८५ ई० में आपने

इँगलैड से आकर कालाकाँकर से हिंदी मे "हिंदोस्थान" नाम का दैनिक पत्र निकालना आरभ किया, जो उनके जीवन मे बराबर चलता रहा। आपने अँगरेजी मे भी "इडियन यूनियन" नाम का एक पत्र निकालना आरभ किया था परतु कुछ दिनो के अनंतर वह बद हो गया। तब से "हिंदोस्थान" की एक दूसरी प्रति अँगरेजी में प्रकाशित होती रही। आधुनिक काल मे "हिंदोस्थान" हिंदी का पहला दैनिक पत्र था और इसके सपादको मे पंडित मदनमोहन मालवीय, पडित प्रतापनारायण मिश्र, बाबू बालमुकुद गुप्त आदि हिंदी के स्वनामधन्य हितैषी और लेखक थे।

आपने केवल हिंदी जाननेवालो को सहज मे अँगरेजी सीख लेने के लिये "दी सेल्फ टीचिंग बुक्" नाम की एक बडी अच्छी पुस्तक लिखी है और "रिसेंट ट्रिप टू यूरप" नाम की अँगरेजी भाषा की पुस्तक मे आपने अपनी इँगलैड-यात्रा का वर्णन लिखा है। आप जिस तरह अपने देश की कला-कौशल और व्यापार की उन्नति चाहते थे वैसे ही मातृभाषा हिंदी के भी परम शुभचितक थे। आपके राजनीतिक और सामाजिक सिद्धात सराहनीय है। आप अवध के तअल्लुकेदारों मे एक माननीय रईस थे। आप कई बार सयुक्त-प्रदेश की कौंसिल में प्रजा के प्रतिनिधि हुए थे। सन् १९०९ ई० में २८ फरवरी को आपका शरीरात हुआ।

(८) बाबू गदाधरसिंह

बाबू गदाधरसिह के पूर्वज काशी के रहनेवाले थे। इनके पितामह खोजूसिह पुलिस मे एक साधारण सिपाही थे। इनके दो पुत्र हुए, राम-सहायसिंह और गनेसूसिंह। रामसहायसिंह ने फारसी मे अच्छी

बाबू गदाधर सिंह।

योग्यता प्राप्त कर ली थी इसलिये वे थानेदार के पद पर पहुँच गए और कुछ दिनो के अनतर कमिश्नर के दूसरे मुशी नियत हुए। इस समय राजा शिवप्रसाद मीरमुशी थे और बाबू रामसहायसिंह और राजा साहब से खूब पटती थी। हमारे चरित-नायक बाबू गदाधरसिंह इन्ही बाबू रामसहायसिंह के पुत्र थे। बाबू गदाधरसिंह का जन्म सन् १८४८ ई० में हुआ था। जब इनकी अवस्था केवल पाँच वर्ष की थी तब उनके पिता बाबू रामसहायसिंह का देहात हो गया जिससे इनके सबधियों ने इनके घर की सब धन-सम्पत्ति नष्ट कर डाली, परंतु इनके पिता के मित्रो ने इनकी यथासाध्य सहायता की और सन् १८५७ ई० मे पढने का लग्गा लगा दिया। दैवात् सन् १८६० मे इनकी माता का भी परलोकवास हो गया और ये निपट अनाथ हो गए। पर इन्होने हिम्मत न हारी और स्वय सासारिक व्यवहारो का अनुभव करते हुए सन् १८६८ मे एट्रेस पास कर लिया।

एट्रेस पास कर लेने पर राजा शिवप्रसाद इन्हे १००) मासिक वेतन की सरकारी नौकरी दिलाते थे पर इन्होने उसे अस्वीकार कर दिया और स्वतत्र जीवन बिताने की इच्छा से कोई व्यापार करने के लिये बाबू हरिश्चद्र जी की सहायता चाही। बाबू साहब ने इन्हे तुरत १,०००) दिए और ये दो-एक मित्रो के साथ कलकत्ते को चले गए। वहाँ से कुछ किराना आदि खरीद कर लाए, पर इनका व्यापार चला नही। इसलिये इन्हे विवश होकर १६) मासिक पर हरिश्चद्र स्कूल मे नौकरी स्वीकार करनी पडी।

सन् १८७१ में राजा शिवप्रसाद की सहायता से बाबू गदाधरसिंह बंदोवस्त-विभाग मे नौकर होकर कानपुर चले गए। वहाँ रहकर इन्होने पहले-पहल हिंदी में कादंबरी उपन्यास लिखा जिसका कुछ भाग

हरिश्चद्र चद्रिका मे प्रकाशित हुआ और फिर सन् १८७८ मे वह पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। सन् १८७४ मे बदोबस्त का काम समाप्त हो जाने पर ये आजमगढ़ मे कानूनगो नियत हुए। कुछ दिनो के अनतर कोर्ट आफ वाड्‌स में नियत होकर ये जौनपुर के राजा के यहाँ आए, पर थोडे ही दिनो मे फिर अपने पद पर आजमगढ को लौट गए। वहाँ इन्होनें सन् १८८३ तक काम किया और इसी बीच मे दुर्गेशनदिनी का भाषानुवाद किया।

सन् १८८३ ई० में पेशकार के पद पर नियत होकर इनकी आजमगढ से मिर्जापुर को बदली हो गई। यहाँ इन्होने सन् १८९३ तक बड़ी योग्यता से काम किया। मिर्जापुर मे ही इन्होनें वगविजेता का भाषानुवाद करके उसे छपवाया और स्त्री का परलोकवास हो जाने पर सन् १८८४ ई० मे अपने उत्तराधिकारीस्वरूप अपने आर्यभाषापुस्तकालय को स्थापित किया।

सन् १८९० तक यह पुस्तकालय मिर्जापुर मे रहा परतु इस सन् के अत मे इन्होनें बनारस आकर इसे हनुमान सेमिनरी स्कूल के प्रबध में छोड दिया। इसी बीच में इनकी इटावे को बदली हो गई और यहाँ न रहने के कारण इनके प्यारे पुस्तकालय की उन्नति के बदले अवनति होने लगी। इन्होंने इटावे में छ· वर्ष काम किया और उथेलो, रोमन-उर्दू की पहली किताब और भगवद्‌गीता ये तीन ग्रंथ लिखे।

निरतर बहुत दिनो तक कार्य करने से व्यथित होकर तथा अपने पुस्तकालय की स्थिति सुधारने की इच्छा से इन्होनें दो वर्ष की छुट्टी ली और सन् १८९६ ई० के जुलाई मास मे ये बनारस चले आए। यहाँ सन् १८९३ ई० मे काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा स्थापित हो चुकी थी और सन् १८९४ ई० से आप उसके एक सभ्य भी थे। अस्तु जब इन्होने

रायबहादुर पंडित लक्ष्मीशंकर मिश्र, एम० ए०।

सभा का उचित प्रबंध देखा तब अपना आर्यभाषापुस्तकालय सभा को समर्पण कर दिया जो अब तक उसकी रक्षा मे उन्नति कर रहा है। मरने के पहले इन्होंने अपनी सब संपत्ति पुस्तकालय के नाम लिख दी थी। पर मुकदमे के चलने से वह सब उसी मे समाप्त हो गई। काशी मे आकर भी इन्होंने दो-एक ग्रंथ लिखे परंतु इनका सबसे उत्तम और अंतिम लेख ऐतिहासिक और पौराणिक विवरण की एक डायरी थी परंतु वह अधूरी ही रह गई।

बाबू गदाधरसिंह का देहांत २९ जुलाई सन् १८९८ ई० को हुआ। वे एक स्वच्छ और उदार स्वभाव के पुरुष थे तथा उच्च अभिलाषी और देशहितैषी और मातृभाषा के सच्चे प्रेमी थे। बाबू गदाधरसिंह ने कादंबरी नाम का हिंदी-साहित्य का पहला कथात्मक ग्रंथ लिखा। इसके अतिरिक्त इनका आर्यभाषापुस्तकालय इस समय भारतवर्ष मे हिंदी छपी पुस्तकों का सबसे बड़ा भांडार है, जो उनकी कीर्त्ति को स्थायी रखेगा।

(९) रायबहादुर पंडित लक्ष्मीशंकर मिश्र, एम० ए०

रायबहादुर पंडित लक्ष्मीशंकर जी सरयूपारी ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम रामजसन मिश्र था। वे संस्कृतकालेज बनारस में प्रोफेसर और काशी के प्रतिष्ठित पुरुषों में थे।

पंडित लक्ष्मीशंकर का जन्म सन् १८४९ ई० मे हुआ था। ये लड़कपन से ही सुशील, गंभीर और तीव्रबुद्धि थे। आठ वर्ष की अवस्था होने पर ये बनारस-कालेज मे अँगरेजी पढ़ने के लिये बैठाए गए। इन्होंने प्रतिवर्ष योग्यतापूर्वक इम्तिहान पास किया, कभी फेल नहीं हुए। सन् १८६९ ई० में बी० ए० पास किया। यद्यपि गणित एक क्लिष्ट विषय

हैं परंतु आपकी गणित पर ही विशेष रुचि रहती थी। इसी से सन् १८७० ई० मे आपने गणित में ही 'आनर्स' के साथ एम० ए० पास किया।

पडित लक्ष्मीशंकर जैसे तीव्रबुद्धि थे वैसे ही सुयोग्य भी थे। उस समय बनारस-कालेज के प्रधान अध्यापक ग्रिफिथ साहब इनकी योग्यता पर मुग्ध थे। उन्होंने इन्हे बनारस-कालेज मे गणित का अध्यापक नियत किया। इनकी पढाने की शैली भी ऐसी अच्छी थी कि गणित ऐसे कठिन विषय को सहज मे समझा देते थे।

उस समय बनारस में "बनारस इस्टीटचूट" नाम की एक सभा थी। डाक्टर थीबो, सर सैयद अहमदखाँ और राजा शिवप्रसाद आदि बडे बड़े योग्य पुरुष उसके सभासद् थे। पंडित लक्ष्मीशकर भी उसमे सम्मिलित थे। ये उस सभा मे बड़े गूढ विषयो पर ऐसे अच्छे व्याख्यान देते थे कि जिनकी वड़े बड़े विद्वान् प्रशंसा करते थे।

पडित लक्ष्मीशंकर समय का बडा आदर करते थे। वे अपना किंचित्-मात्र भी समय व्यर्थ न जाने देते थे। नित्य के आवश्यक कामो से जो समय बचता उसमें आप उत्तमोत्तम पुस्तकें लिखा करते थे। पहले-पहल इन्होंने त्रिकोणमिति (Trigonometry) नामक एक ग्रथ लिखा जिसके लिये इस प्रात की गवर्मेंट ने इन्हें एक हजार रुपया इनाम दिया। इसके पीछे हिंदी में गणितकौमुदी की रचना की।

सात वर्ष तक पंडित जी गणित के अध्यापक रहे। इसके पीछे सन् १८७७ ई० में आप विज्ञानशास्त्र के अध्यापक हुए। इस समय इन्होने विज्ञान पर पुस्तकें लिखना आरंभ किया और पदार्थविज्ञानविटप, प्राकृतिक भूगोलचद्रिका, वायुचक्रविज्ञान, स्थिति-विद्या, गति-विद्या आदि नाम की परम उपयोगी पुस्तकें लिखकर हिंदी के भांडार में विज्ञान-शास्त्र का बीज वो दिया।

बनारस-नार्मल स्कूल के हेडमास्टर बाबू बालेश्वरप्रसाद जी हिंदी मे काशीपत्रिका नाम की एक पाक्षिक पत्रिका को स्वय सपादन करके प्रकाशित करते थे। सन् १८८५ ई० मे जब पडित लक्ष्मीशकर मिश्र बनारस जिले के स्कूलो के इसपेक्टर नियत हुए तब उन्होने काशीपत्रिका के मब अधिकार इनको दे दिये। तब उसी सबध मे इन्होने काशी में अपना चद्रप्रभा प्रेस खोला और उक्त काशीपत्रिका को साप्ताहिक रूप मे प्रकाशित करना आरभ किया। यह पत्रिका अपने ढग की एक ही थी। इसे गवर्मेंट ने मदरसो के लिये स्वीकार किया था।

जिस समय पडित लक्ष्मीशकर मिश्र इसपेक्टर नियत हुए उस समय इस जिले के स्कूलो की पढाई की अवस्था बडी अनिश्चित थी। पडित जी ने उसका यथोचित सुधार किया। गवर्मेंट ने इन्हे सन् १८८८ ई० में इलाहाबाद की कमिश्नरी का इसपेक्टर नियत किया। इन्होने दोनों जिलो मे बडी योग्यता से कार्य किया। इनकी कार्य-प्रणाली से प्रसन्न होकर गवर्मेंट ने इन्हे सन् १८८९ ई० मे रायबहादुर की पदवी प्रदान की।

पडित लक्ष्मीशकर जी कलकत्ता और इलाहाबाद दोनो विश्वविद्या-लयो के फेलो थे। शिक्षा-सबधी कानून बनाने मे सदा इनकी सम्मति ली जाती थी। सन् १८८२ ई० मे जब लार्ड रिपन ने शिक्षा-कमीशन बैठाया था तब इस प्रात से आपही प्रतिनिधि होकर गए थे। इन्होने कमीशन के प्रश्नो का बड़ी योग्यता से उत्तर दिया था। शिक्षा-विभाग मे आपका बडा आदर था। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के आप कई वर्षों तक सभापति रहे और उसकी प्रारभिक अवस्था में उसकी उन्नति के मूल करण हुए।

आपका देहात ता० २ दिसबर १९०६ ई० को हुआ।

पडित लक्ष्मीशकर की विशेषता इस बात में थी कि वे हिंदी में गणित और विज्ञानविषयक ग्रथो के पहले लेखक थे। इन ग्रथों मे हिंदी सुधरे हुए रूप मे दृष्टिगोचर होती है, पर काशीपत्रिका, जो हिंदी और उर्दू दोनो मे प्रकाशित होती थी, खिचडी भाषा मे प्रकाशित होती थी। ऐसा होना एक प्रकार से अनिवार्य भी था, क्योकि यह हिंदी-उर्दू दोनो भाषाओं के पढनेवाले विद्यार्थियो के लिये प्रकाशित होती थी। सिद्धात-रूप में ये मिश्रित पर सहज भाषा के पक्षपाती थे और समय समय पर उसका समर्थन करते थे।

(१०) भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र

सुप्रसिद्ध सेठ अमीचंद के दोनो पुत्र राय रतनचदबहादुर और शाह फतहचद काशी मे आ बसे थे। शाह फतहचद के पौत्र बाबू हरख-चद ने अपने ही सद्व्यवहार से असंख्य सपत्ति कमाई और उसे सत्कार्य में व्यय करके बडी बडाई पाई। इनके पुत्र बाबू गोपालचद हुए जो हिंदी भाषा के बडे अच्छे कवि हो गए है। इन्होने पौराणिक आधार पर ४० काव्य-ग्रंथ रचे और सस्कृत में भी कुछ कविता की। इनके सुपुत्र बाबू हरिश्चंद्र हुए।

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र का जन्म तारीख ९ सितबर सन् १८५० ई० को हुआ था। बाबू साहब का स्वभाव चंचल और बुद्धि तीव्र थी। जिस समय इनकी केवल सात वर्ष की अवस्था थी तभी आपने एक दोहा रचकर पिता को समर्पित किया था। उस पर प्रसन्न होकर पिता ने इनको आशीर्वाद दिया कि तू अवश्य मेरा मुख उज्ज्वल करेगा। ऐसा ही हुआ भी। परतु जिस समय इनकी अवस्था ९ वर्ष की थी इनके पिता का परलोकवास हो गया जिससे इनकी स्वतत्र प्रकृति को और भी स्वच्छंदता

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र।

प्राप्त हो गई और ये सब काम मनमाने करने लगे। उसी समय इनकी पढाई का सिलसिला शुरू हुआ। पहले तो इन्होने कुछ दिन राजा शिवप्रसाद से अँगरेजी पढी, फिर स्कूल मे भरती हो गए। आप स्कूल जाते, अपना सबक भी याद कर ले जाते और अपनी विचित्र बुद्धि से पाठको को भी सतुष्ट रखते, परतु मन लगाकर न पढते थे। तीन-चार वर्ष तक तो इनके पढने-पढाने का सिलसिला ज्यो-त्यो चलता गया परंतु सन् १८६४ ई० में अपनी माता के साथ ज्यो ही ये जगन्नाथ जी को गए त्यो ही इनका पढना-लिखना भी छूट गया। परतु कविता की ओर विशेष रुचि बढ गई।

जिस समय ये जगन्नाथ जी से लौट आए तो इनके चित्त मे देश-हित का अंकुर प्रस्फुरित हुआ। इनको निश्चय हो गया कि पाश्चात्य शिक्षा के बिना कुछ नही हो सकता, इसलिये स्वय पठित विषयो का अभ्यास करने लगे और अपने घर पर एक स्कूल भी खोल दिया जिसमे उस महल्ले के बहुत-से लडके पढने आने लगे। समय पाकर यह स्कूल चौखभा स्कूल के नाम से प्रसिद्ध हुआ और आजकल यही स्कूल हरिश्चंद्र इंटरमीडियेट कालेज कहलाता है। इसके दूसरे वर्ष सन् १८६८ ई० में इन्होने "कविवचनसुधा" को जन्म दिया जिससे एक काशी के क्या जहाँ-तहाँ के सब भाषा-कवियो की कविता प्रकाशित होने का द्वार खुल गया और जिसे पढते-पढाते कई एक हिंदी-प्रेमी अच्छे लेखक हो गए। सन् १८७० ई० मे इन्हे आनरेरी मजिस्ट्रेट का पद मिला परतु कुछ दिन बाद आपने स्वय इस पद को छोड़ दिया। सन् १८७३ मे आपने हरिश्चद्र मेगजीन प्रकाशित करना आरंभ कर दिया परतु केवल आठ अक निकाल कर वह बद कर दिया गया।

वैसे तो बाबू हरिश्चंद्र हिंदी-गद्य-पद्य की रचना सन् १८६४ से करने लगे थे, परतु सन् १८७३ मे इनकी लेखनी खूब परिमार्जित हो चुकी थी इसलिये अपने लेखन का आरभ-काल इन्होने सन् १८७३ से माना है। इस वर्ष इन्होने पेनी रीडिंग (Penny Reading) नाम का समाज स्थापित किया, जिसमे हिंदी के अच्छे-अच्छे लेखक लेख लिख-लिख कर ले जाते अथवा समस्यापूर्ति करके सुनाते थे। इसी वर्ष मे इन्होने कर्पूरमंजरी और चद्रावली नाटको की रचना की।

बाबू साहब स्वय जैसे बुद्धिमान्, विद्वान्, चतुर और बहुकलाकुशल थे वैसे ही वे और और गुणी जनो का भी आदर किया करते थे। उनका उचित सम्मान करते तथा उन्हे उचित पारितोषिक भी देते थे। इसी से इनके यहाँ सदैव अच्छे-अच्छे पडितो, कवियो और अन्य प्रकार के गुणी लोगो का जमाव रहता था।

सन् १८७३ ही मे आपने "तदीय समाज" नाम की एक सभा स्थापित की जिसका उद्देश्य केवल प्रेम और धर्मसबधी विषयो पर विचार करना था। दिल्ली-दरबार के समय इस समाज ने गोरक्षा के लिये एक लाख प्रजा से दस्तखत करवाए थे । इसी प्रकार इन्होने कई एक सभा-समाज स्थापित किये, पत्र निकाले, या सहायता देकर निकलवाए, और निज से पारितोषिक और इनाम दे-देकर कई एक को कवि और सुलेखक बना दिया। इन्होनें अधिकतर नाटक और कविता में ही सब ग्रंथ रचे, इनके रचित ग्रथो में काव्यो मे प्रेम-फुलवारी, नाटको मे सत्य हरिश्चद्र, चद्रावली, धर्म-सबधी ग्रथो में तदीयसर्वस्व और ऐतिहासिक रचना मे काशमीर-कुसुम चुने हुए ग्रंथ है । आप ऐतिहासिक विषय के बड़े प्रेमी थे और आपकी रचना प्राय: सब ऐतिहासिक विषयो से सबध रखती है।

बाबू हरिश्चद्र जी की हिंदी चिर-ऋणी रहेगी। यह इन्ही के उद्योग का फल है कि आज दिन हिंदी का इतना प्रचार है। इसकी सहायता में इन्होने अपने को सब प्रकार के सुखो से वंचित कर दिया। हिंदी-आकाश-मडल में, जब कि घोर अधकार छा रहा था, भारतेंदु के उदय से वह प्रकाश फैला कि जिसकी कौमुदी से अब तक लोग आनदित और सुखी होते है। इन्ही बातो का स्मरण कर समस्त हिंदी-समाचारपत्रो ने भारतेंदु की उपाधि से इन्हें सम्मानित किया। इस उपाधि का आदर राजा और प्रजा दोनो ने किया जो हिंदी के लिये एक विचित्र घटना है।

बाबू साहब का स्वर्गलोकगमन ३५ वर्ष की अवस्था में तारीख ६ जनवरी सन् १८८५ को हुआ।

भारतेंदु जी के उदय के पूर्व हिंदी-साहित्य का संबध समाज से छूट गया था। समाज में समयानुकूल परिवर्तन हो रहे थे, पर हिंदी कविता अपनी पुरानी परिपाटी पर चल रही थी। रीति-काल की कविता में जो शृंगारिकता का भाव प्रबल हो रहा था उससे कवियो मे अपने आश्रयदाताओ को प्रसन्न करने की प्रवृत्ति प्रबल हो रही थी। इसने समाज का बहुत कुछ अनिष्ट किया था। कवि का कार्य समाज को उत्तेजित करना, उत्साहित करना, और सन्मार्ग पर लगाना था। पर वहाँ देश की चिता नहीं थी, वहाँ तो स्वार्थसाधन एकमात्र ध्येय था। भारतेंदु ने इस प्रवृत्ति को समझा और इसके अनिष्टकर परिणामो का अनुभव किया। वे कविता को नये मार्ग पर ले चले। देशहितैषिता के भावो से उसे भर दिया।

इसी प्रकार गद्य-साहित्य की सर्वतोमुखी उन्नति का ध्येय उन्होने अपने सामने रक्खा। राजा शिवप्रसाद जिस भाषा के प्रचलन के समर्थक थे भारतेंदु जी को वह रुचिकर न हुई। उन्होने राजा लक्ष्मणसिंह के

मार्ग पर चलने में ही हिंदी का हित समझा और सब प्रकार से उसके प्रचार करने में वे दत्तचित्त हुए। समाचारपत्र निकाले, सामयिक पत्रिकाओं का सूत्रपात किया, पुस्तकें लिखी और लिखवाईं, व्याख्यान दिए। कहने का तात्पर्य इतना ही कि उन्होंने अपने उद्देश्य में सफलता पाने में कोई बात उठा नही रक्खी, यहाँ तक कि अपनी संपत्ति को भी इस कार्य में स्वाहा कर दिया। यह तपस्या, यह बलिदान व्यर्थ नही गया। इसका सुंदर फल यथासमय मिला, पर दुःख इस बात का है कि भारतेंदुजी ने बीजारोपण किया उससे उगते हुए विशाल वृक्ष को वे न देख सके; उसके पल्लवित, पुष्पित और फलान्वित होने की बात तो दूर रही।

उनके अनुगामियो की एक अच्छी मंडली उपस्थित हो गई और वह साहित्य के सब अंगो की पुष्टि की चेष्टा में तत्पर हुई।

सच तो यह है कि भारतेंदु के लगाए हुए वृक्ष के मधुर फलो का आस्वादन हम कर रहे है और हिंदी को फलते-फूलते देखकर फूले अंगो नही समाते।

उनकी कृतियो की आलोचना करना असंगत होगा। वह युग हिंदी के आधुनिक उत्थान का था। उस समय त्रुटियो का रहना अनिवार्य था।

(११) लाला श्रीनिवासदास

लाला श्रीनिवासदास जाति के वैश्य थे। उनके पिता का नाम लाला मंगलीलाल जी था। वे मथुरा के सुप्रसिद्ध सेठ लक्ष्मीचंद जी के प्रधान मुनीब थे। कहने को तो वे मुनीब थे पर वास्तव में वे सेठ जी के दीवान थे। वे दिल्ली की कोठी के कारिंदे थे और वही रहते थे।

लाला श्रीनिवासदास ।

लाला श्रीनिवासदास का जन्म संवत् १९०८ (सन् १८५१ ई०) मे हुआ था। ये बाल्यावस्था से ही बड़े शीलवान्, सदाचारी और चतुर थे। इन्होंने आरंभ मे हिंदी और फिर उर्दू, फारसी, संस्कृत और अँगरेजी आदि भाषाओं में अभ्यास करके शीघ्र ही अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। महाजनी कारोबार मे तो इन्होंने ऐसी दक्षता प्राप्त कर ली थी कि केवल अठारह वर्ष की अवस्था में दिल्ली की कोठी का सारा कारोबार हाथो हाथ सँभाल लिया। इनकी ऐसी योग्यता देखकर पंजाब-प्रान्त की गवर्मेंट ने इन्हे म्युनिसिपल कमिश्नर बनाया और आनरेरी मजिस्ट्रेट की पदवी प्रदान की। इनकी जैसी रीझ-बूझ सरकार में थी वैसे ही बिरादरीवाले और शहर के महाजन लोग भी इनको मानते थे। लाला श्रीनिवासदास को दिल्ली की कोठी का कारोबार करने के अतिरिक्त इधर-उधर दौरा करके और-और कोठियो की भी देख-भाल करनी पडती थी, इससे इन्हें अपनी बुद्धि को परिमार्जित करने का और भी अच्छा अवसर हाथ लगा। इन्हें मातृभाषा हिंदी से स्वाभाविक प्रेम था। आप जहाँ कही बाहर जाते और वहाँ कोई हिंदी का लेखक या रसिक होता तो उससे अवश्य ही मिलते। यदि इनके यहाँ कोई हिंदी का गुणग्राही आ जाता तो सब काम छोडकर उससे बडे प्रेम से मिलते और उसका अच्छा सत्कार करते।

एक बार आप पंडित प्रतापनारायण मिश्र के यहाँ मिलने गए और बडी नम्रतापूर्वक इन्होंने उन्हें एक मोहर नजर करनी चाही। इस पर पंडित प्रतापनारायण बेतरह बिगडे और बोले, आप हमारे पास अपने धन की गरूरी बतलाने आए हो। इसके उत्तर मे इन्होंने नम्रतापूर्वक हाथ जोडकर उत्तर दिया कि नही महाराज, मैं तो मातृभाषा के मंदिर पर अक्षत चढाता हूँ।

लाला श्रीनिवासदास को हिंदी से बडा प्रेम था और इसकी सेवा करने का बडा उत्साह था परंतु काम-काज के झंझट के कारण इन्हें अवकाश बहुत कम मिलता था। इसलिये इनके लिखे हुए तप्तासवरण, संयोगितास्वयंवर, रणधीरप्रेममोहिनी और परीक्षा-गुरु ये ही चार ग्रथ है, पर फिर भी ये चारों ग्रथ एक से एक बढकर हैं। परीक्षागुरु मे इन्होने जो एक साहूकार के पुत्र के जीवन का दृश्य खीचा है उसे देखकर स्पष्ट प्रकट होता है कि इन्हे सासारिक व्यवहारो का कैसा अच्छा अनुभव था।

खेद के साथ कहना पड़ता है कि लाला श्रीनिवासदास केवल ३६ वर्ष की अवस्था मे सवत् १९४४ (सन् १८८७) में कालकवलित हुए। यदि ये कुछ दिन और रहते तो हिंदी भाषा की बहुत कुछ सेवा करते। इनका चरित्र और स्वभाव आदर्श मानने योग्य है।

लाला श्रीनिवासदास की भाषा मे प्रांतीयता की मिठास है। ये बहुत दिनो तक दिल्ली में रहे इस कारण इनकी भाषा दिल्लीपन लिए हुए है और शब्दो के उच्चारण में भी वहाँ का प्रभाव वर्तमान है। नाटको मे इन्होने सस्कृत नाट्यशास्त्र की पद्धति के अनुसार पात्रो के वार्तालाप, उनकी अपनी अपनी भाषा मे कराया है।

(१२) बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री

बाबू कार्तिकप्रसाद के पितामह गोविंदप्रसाद जी तीर्थाटन की इच्छा से वृंदावन में आए और फिर वे वही रहने लगे। वे अरबी फारसी में अच्छी योग्यता रखते थे और हकीमी विद्या मे भी निपुण थे। इसलिये भरतपुर के महाराज के कृपापात्र होकर उसी दरबार में हकीम के पद पर नियत होकर रहने लगे। परंतु सन् १८२८ मे

बाबू कार्तिकप्रसाद ।

जब भरतपुर अँगरेज सरकार ने विजय कर लिया तब वे कलकत्ते में आकर रहने लगे। यहाँ उन पर सरकार की कृपा रही और वे २००) मासिक पाते रहे। इसी प्रकार उनके पुत्र बलदेवप्रसाद जी भी हकीमी विद्या मे निपुण हुए और वे भी सरकार के कृपापात्र रहे।

बाबू कार्तिकप्रसाद का जन्म सवत् १९०८ मिति अगहन वदी ७ को कलकत्ते मे हुआ था। इनके पिता बलदेवप्रसाद जी ने इन्हें यथासाध्य अच्छी शिक्षा देने का प्रयत्न किया था परन्तु सन् १८७० मे जब उनका देहात हो गया तब इनकी अवस्था केवल १७ वर्ष की थी। दुर्भाग्यवश इसी वर्ष इनकी माता का भी परलोकवास हो गया। इसी कारण सासारिक व्यवहारो का भार सिर पर आ पडने के कारण ये आगे शिक्षा न पा सके और न प्राप्तशिक्षा का उचित उपयोग कर सके। उस समय तक इन्होने अँगरेजी में एट्रेंस परीक्षा तक पढ लिया था और सस्कृत के अतिरिक्त वैद्यक-विद्या मे भी कुछ अभ्यास कर लिया था। बँगला भाषा में भी इन्होने अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली थी।

परतु अपनी मातृभाषा हिंदी से इन्हें स्वाभाविक अनुराग था। 'सारसुधानिधि' के सपादक पडित सदानद जी से हेल-मेल होने के कारण इनका इस ओर और भी उत्साह बढा और इन्ही की सहायता से इन्होने १४ वर्ष की अवस्था में "जन्मभूमि और अन्न से मनुष्य की उत्पत्ति" विषय पर एक निबध हिंदी में लिखकर सर्वसाधारण के समुख पढा। सन् १८७१ ई० में इन्होने "प्रेम-विलासिनी" मासिक पत्रिका और "हिंदी-प्रकाश" साप्ताहिक पत्र प्रकाशित करना आरभ किया। कलकत्ते में उस युग के हिंदी के ये पहले अच्छे समाचार-

पत्र थे। इन्होने हिंदी के "नंदकोष" नामक पद्यकोष को अकारादि क्रम से लिखकर संपादित किया और सारस्वत के पूर्वार्द्ध का भाषानुवाद करके उसका "सारस्वतदीपिका" नाम रखा।

पिता के देहात होने के पश्चात् इन्होने कई एक व्यापार उठाए परतु सबमे घाटा हुआ। अंत मे इन्होनें एक बिसातखानें की दूकान खोली सो उसे एक कृतघ्न मित्र ने बिलकुल अपना लिया। इन्ही सब कारणों से उचाटचित्त होकर इन्होने कलकत्ता छोड़कर काशी का रहना पसंद किया। कलकत्ते से आकर इन्होने कुछ दिन लखनऊ के डाक-विभाग में काम किया और कुछ दिन अपने मामा वकील छन्नूलालजी की जमीदारी का भी प्रबंध किया। परतु कुछ काल पश्चात् यह सब छोडकर इन्होने रीवाँ की यात्रा की। रीवाँधिपति महाराज रघुराजसिंहजी इनसे मिलकर अत्यत प्रसन्न हुए और उन्होने इन्हे कृपापूर्वक अपना मुसाहिब बनाकर अपने पास रखा।

११ वर्ष रीवाँ मे रहकर आप पुन. काशी को चले आए। सन् १८८४ ई० में बलिया जिले के बंदोबस्त के मुहकमे मे हिंदी जारी होने का प्रयत्न हो रहा था। अस्तु, यहाँ से बाबू हरिश्चद्र जी ने आपको प्रतिनिधि बनाकर हिंदी का पक्ष समर्थन करने को भेजा। वहाँ से लौटते समय आप काशी न आकर सीधे आसाम को चले गए और विसडगढ, कामरूप, सिलहट, कछार, मनीपुर आदि स्थानो में होते हुए शिलाँग मे आए। यहाँ इन्होने पंजाबी शाल वगैरह की दूकान खोली, चदा करके जगन्नाथ का मदिर बनवाया ओर रथयात्रा का मेला स्थापित किया, तथा "मित्र-समाज" नामक एक सभा स्थापित की। बवई मे जब गोरक्षा-मिमोरियल की बात चली थी तब आपने आसाम से दस हजार व्यक्तियो के हस्ताक्षर करवाए थे।

पंडित भीमसेन शर्मा।

आसाम से लौटकर जब से आप काशी जी में आए तब से फिर कहीं नहीं गए। केवल एक बार काश्मीर की यात्रा की थी। काशी मे रहकर भारतजीवन का संपादन और उत्तमोत्तम पुस्तकें लिखकर हिंदी-साहित्य की सेवा करते रहे। आपने कोई बीस पुस्तकें लिखी जिनमे से कुछ तो बँगला के अनुवाद हैं। आप कुछ दिन तक काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के उपसभापति भी रहे थे और उसकी उन्नति मे सदा दत्तचित्त रहते थे। आपका देहांत तारीख ९ जुलाई सन् १९०४ को काशी में हुआ।

इनके 'इला', 'प्रमोला', 'जया', और 'मधु-मालती' नामक उपन्यास प्रकाशित हुए थे और ये 'सरस्वती' पत्रिका के प्रथम वर्ष के संपादको में थे। इनकी भाषा सरल और मनोहर होती थी। इनका हिंदी-प्रेम बहुत बढ़ा-चढ़ा रहा। जब तक ये जीवित रहे काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के कामो में सलग्न रहे और सदा उसकी उन्नति के उपाय सोचते रहे।

(१३) पंडित भीमसेन शर्मा

जिला फर्रुखाबाद मे मेरापुर नाम का एक गाँव है। उसी के समीप रामपुर एक बस्ती है। रामपुर किसी क्षत्रियवंश की राजधानी थी। मेरापुर मे उस राजवंश के पुरोहित धृतकौशिक गोत्री ब्राह्मण रहते थे। उनका आस्पद मिश्र था। कालवश उक्त राजधानी के नष्ट होने पर मेरापुर भी उजड गया।

उक्त मिश्रवंश में से एक पंडित हरिराम शर्म्मा जिला एटा तहसील अलीगंज के लालपुर नाम के गाँव में आ बसे। उनसे छठी पीढ़ी में नेकराम शर्म्मा का जन्म हुआ।

हमारे चरित-नायक पडित भीमसेन शर्म्मा इन्ही नेकराम जी के पुत्र थे। इनका जन्म सवत् १९११ में हुआ। ढाई वर्ष की अवस्था होने पर इनकी माता का परलोकवास हो गया, तब से ये पिता के पास रहने लगे और बोलने की शक्ति होते ही हिसाब सीखने लगे, क्योकि इनके पिता गणित-विद्या में बडे निपुण थे।

उस समय बालको के पढ़ने का कोई उचित प्रबध नही था पर इस ओर लोगों का ध्यान आकर्षित हो चुका था। इसलिये गाँव के सब लोगो ने मिलकर एक कायस्थ लाला को उर्दू पढाने पर रखा। गाँव के सब लडको के साथ पडित भीमसेन भी उर्दू पढने लगे। ये अपनी तीव्रबुद्धि से अपना पाठ बडी सावधानी से घोख लेते थे परतु लाला जी इनसे प्रसन्न होने के बदले अप्रसन्न रहते थे। वे सोचते थे कि यदि इसी तरह सब लडके पढ गए तो हमारी जीविका कैसे चलेगी। कुछ दिनो के अनतर लाला जी चले गए और सब लडके अधकचरे रह गए, परतु भीमसेन जी दूसरे गाँव में जाकर पढ आते थे। इस तरह से पढने-लिखने योग्य उर्दू की योग्यता प्राप्त कर लेने पर इन्होने हिंदी का अध्ययन आरभ किया और इसके पीछे सस्कृत-व्याकरण पढना आरभ किया।

१७ वर्ष की अवस्था तक इन्होने घर पर अध्ययन किया परतु सवत् १९२५-२६ मे जब स्वामी दयानद जी ने फर्रुखाबाद मे सस्कृत-पाठशाला स्थापित की तब ये वहाँ पढने चले गए और अष्टाध्यायी व्याकरण की श्रेणी में भरती हुए। इन्होने दो वर्ष में सपूर्ण अष्टाध्यायी पढ ली और इसके अनतर व्याकरणमहाभाष्य, पिंगलसूत्र, स्वरप्रकरण, चंद्रालोककारिका, अलकार और माघ काव्य आदि ग्रथो को एक साथ पढ़ा और एक वर्ष में इन सबमें प्रवेश कर लिया। तदनतर २१ वर्ष

की अवस्था में इनका विवाह हुआ और फिर ये काशी में आकर दर्शनशास्त्र पढने लगे।

इस समय स्वामी दयानंद जी भी काशी में थे। पडित भीमसेन उन्ही के यहाँ लिखा-पढी का काम करने लगे। उन्ही के साथ इन्होने दिल्ली-दरबार देखा और दो वर्ष तक पजाब में पर्य्यटन किया। फिर काशी में रहकर ये दर्शनग्रथ पढने लगे। यहाँ बीमार पडने के कारण वे घर चले गए और वहाँ से फिर स्वामी जी के साथ रहने लगे। सवत् १९४० में जब स्वामी दयानद जी का स्वर्गवास हो गया तब ये वैदिक यत्रालय प्रयाग में सशोधक के कार्य पर नियत हुए। यहाँ रहकर इन्होने बहुत-सी दर्शन और वैदिक पुस्तको का भाषानुवाद किया और कई पुस्तकें स्वतन्त्र रची। सवत् १९४२ मे इन्होंने आर्य्यसिद्धात नाम का एक मासिक पत्र निकाला और उपनिषदादि कई पुस्तको पर भाष्य लिखे। कुछ दिनो के पीछे उक्त प्रेस के मैनेजर से बिगाड हो जाने के कारण इन्होंने वह नौकरी छोड दी और अपना घर का प्रेस कर लिया।

वैदिक यन्त्रालय से सबध छोडने के दस-बारह वर्ष के अनंतर कलकत्ते के सेठ माधवप्रसाद खेमका इनके पास गए और इनसे कहा कि हम यज्ञ किया चाहते हैं उसे आप वेद की विधि से कराइए। इन्होने सेठ जी के अनुरोध से जब वेद में यज्ञ की विधि देखी तो उसे प्राय आर्य्य-समाज के सिद्धात के बहुत प्रतिकूल पाया। इन्होंने सेठ जी से कहा तो सेठ जी ने कहा कि आर्य्य-समाज से कुछ प्रयोजन नही, हम वेद-विधि से यज्ञ किया चाहते हैं। अस्तु, इन्होंने उसी समय से आर्य्य-समाज से अपना सबध छोड दिया और वेद-विधि से यज्ञ कराया। इस पर आर्य्यसमाजी लोग इनसे बहुत कुछ बिगडे और अखबारो में इनकी

बड़ी निंदा छापी। इन्होंने उसका प्रतिवाद किया और "आर्य्य-समाज" को वेदविरुद्ध धर्म सिद्ध किया। इन्होंने आगरे के आर्य्यसमाज से श्राद्धविषय पर शास्त्रार्थ भी किया। इसी के कुछ दिनो बाद ब्राह्मणसर्वस्व नामक मासिक पत्र निकाला।

इसके अनतर इटावा नगर में बैठकर ये भगवद्भजन मे समय बिताते रहे और विद्या-व्यसन मे रत रहते। एक बार जब आर्य्य-समाज में मांसाहारी दल की प्रबलता हुई तब इन्हें जोधपुर में बुलाकर लोगों ने १००) मासिक पर उपदेशक नियत करके मांस खाने को वेद से सिद्ध कराना चाहा था पर इन्होंने इसे स्वीकार नही किया। सन् १९१२ में कलकत्ता-विश्वविद्यालय मे आप "वेद" के अध्यापक नियत हुए और कई वर्ष तक उस काम को करते रहे। इनका देहात चैत्र कृष्ण १२ सवत् १९७४ को हुआ।

(१४) पंडित केशवराम भट्ट

पंडित केशवराम भट्ट महाराष्ट्र ब्राह्मण थे। इनके पूर्वज बहुत दिनो से बिहार मे रहने लगे थे। यद्यपि इनका आस्पद 'पाठक' था परन्तु इधर दक्षिण के ब्राह्मण-मात्र को लोग भट्ट कहते है इसी से यह उनकी कुल परम्परा की उपाधि हो गई। इनके पिता एक धनवान् और प्रतिष्ठित पुरुष थे। वे महाजनी का काम करते थे।

पडित केशवराम का जन्म आश्विन कृष्ण पचमी संवत् १९११ को हुआ था। इनके जन्म होने के छ. महीने पहले ही इनके पिता का पर-लोकवास हो गया था। परतु इनके बडे भाई पंडित मदनमोहन भट्ट होशियार थे। उन्होने घर का काम-काज सँभाला और इनकी शिक्षा
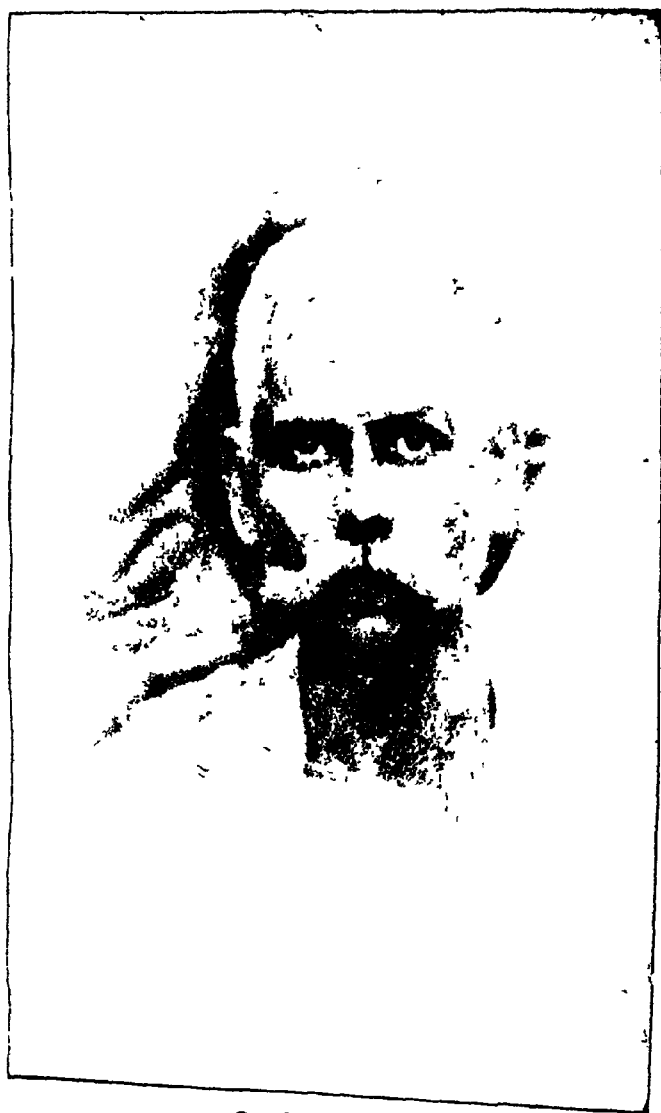
पंडित केशवराम भट्ट।

का प्रबंध किया। इनकी माता स्वय शिक्षिता और बुद्धिमती थी, अतएव आरभ मे उन्होने इनको उचित शिक्षा दी। कुछ वडे होने पर इन्होने महाजनी और हिंदी पढी और फिर उर्दू और फारसी मे अच्छी योग्यता प्राप्त करने के पश्चात् इन्होने अँगरेजी पढना आरभ किया। सन् १८७२ मे इन्होने एट्रेंस परीक्षा पास की और फिर एफ० ए० मे भी अभ्यास किया परतु परीक्षा मे उत्तीर्ण न हो सके इसलिये इन्होने पढना छोड दिया।

पडित केशवराम जी ने सन् १८७४ मे "विहार-बंधु" प्रेस खोला और उसी के साथ "विहारबंधु" समाचार-पत्र को प्रकाशित करना आरभ किया। आप किसी कार्यविशेष से कुछ दिन के लिये कलकत्ते चले गए थे। इसलिये इनके सहपाठी मुशी हसनअली विहारबंधु के सपादक हुए और ये उसकी केवल लेखो से सहायता करते रहे। इसी समय बिहार के स्कूलो के सर्किल इसपेक्टर के आज्ञानुसार बोधोदय नामक एक बँगला पुस्तक का इन्होने भाषानुवाद किया और उसका नाम विद्या की नीव रक्खा। यह पुस्तक बहुत दिनो तक बिहार के स्कूलों में चलती रही।

सन् १८७५ ई० में 'बिहारबंधु' का सम्पादन इन्होने स्वयं अपने हाथ मे लिया और इसी वर्ष "बिहार-उपकारक सभा" स्थापित की।

इन दिनो बिहार मे तथा अन्यत्र भी नाटको की अच्छी चर्चा थी। अस्तु, कई एक अतरग मित्रो की प्रेरणा से आपने "शमशाद सौसन" नाम का पहला नाटक लिखा। इसका अभिनय भी हुआ जिससे दर्शक-मडली अत्यत प्रसन्न हुई और इनका भी उत्साह बढा। फिर इन्होने दूसरा नाटक "सज्जाद सबुल" लिखा।

सन् १८७७ ई० मे आप दरभगा के स्कूलो के आफिशियेटिंग डिप्टी इंसपेक्टर नियत हुए। इस पद पर इन्होंने बडी योग्यता और मुस्तैदी से काम किया और सन् १८७९ ई० मे आप नार्मल स्कूल के आफिशियेटिंग हेड मास्टर हुए।

कुछ दिनो के पश्चात् आप स्थानीय बिहार हाई इँगलिश स्कूल के हेड पडित के पद पर नियत हुए और १३ वर्ष तक अर्थात् अपने अतिम समय तक उसी पद पर काम करते रहे।

पंडित केशवराम भट्ट हिंदी के अच्छे लेखको मे से थे। यद्यपि इन्होंने पुस्तकें बहुत नही लिखी है, पर जो लिखी हैं सब उपयोगी हैं। आपकी लिखी पुस्तकें ये हैं—

(१) विद्या की नीव, (२) भारतवर्ष का इतिहास—बगला भाषा से अनुवादित, (३) शमशाद सौमन नाटक, (४) सज्जाद सबुल नाटक, (५) हिंदी का व्याकरण, (६) रासेलस (अनुवाद)।

इनके बड़े भाई पडित मदनमोहन भट्ट भी अच्छे लेखक थे। उन्होने हिंदीमहाभारत लिखा था और इसके सिवाय कई छोटी-छोटी पुस्तकें भी लिखी थी जिन सबमे से लोकनीति एक प्रशसनीय पुस्तक है।

पंडित केशवराम भट्ट एक सुचरित्र पुरुष थे। ये वडे शुद्धचित्त, शातस्वभाव, स्पष्टवक्ता, मिलनसार और निरभिमानी थे। इनका देहात १९६२ संवत् के लगभग हुआ।

इन्होने बिहार में हिंदी-प्रचार के लिये विशेष उद्योग किया था। इनके नाटको की भाषा उर्दू मिश्रित है, जो उनके नामो से ही प्रकट होता है। बिहारबधु हिंदी के मान्य पत्रो मे था और उसके द्वारा हिंदी के प्रचार में विशेष सहायता पहुँची थी।

(१५) उपाध्याय पंडित बदरीनारायण चौधरी

पंडित बदरीनारायण चौधरी भारद्वाज गोत्र के सरयूपारीण ब्राह्मण खोरिया उपाध्याय थे। इनके दादा पंडित शीतलप्रसाद उपाध्याय मिर्जा-पुर के एक प्रतिष्ठित रईस, महाजन, व्यापारी और जमींदार थे। इन्होंने अपने ही बाहुबल से बहुत कुछ धन, मान और प्रतिष्ठा प्राप्त की। इनके एकमात्र पुत्र पंडित गुरुचरणलाल उपाध्याय हुए जो अपने पैत्रिक तथा सांसारिक कार्यों का भली भाँति संपादन करते हुए ब्राह्मण-गुणों में आदर्श हुए। इन्होंने बहुत कुछ द्रव्य व्यय करके कई संस्कृत-पाठशालाएँ खोलीं जिनमें विद्यार्थियों को भोजन आच्छादन आदि का भी उपयुक्त प्रबंध है।

इनके ज्येष्ठ पुत्र हमारे चरित-नायक पंडित बदरीनारायण चौधरी का जन्म संवत् १९१२ भाद्रपद कृष्ण ६ को हुआ। प्रायः पाँच वर्ष की अवस्था के पूर्व इनकी सुशीला और शिक्षिता माता ने स्वयं इन्हें हिंदी पढ़ाना आरंभ कर दिया, तो भी इन्हें गुरु जी के यहाँ कुछ दिनों तक हिंदी पढ़नी पड़ी थी। संवत् १९१७ में इन्हें फारसी की शिक्षा दी जाने लगी। फिर अँगरेजी प्रारंभ कराई गई, पर कई कारणों से पढ़ाई का सिलसिला ठीक न चल सका। कुछ दिनों तक गोंडे में रहकर इन्होंने विद्याध्ययन किया। यहाँ अवधेश महाराज सर प्रतापनारायण-सिंह, लाल त्रिलोकीनाथसिंह और राजा उदयनारायणसिंह आदि का साथ हो जाने से इन्हें अश्वारोहण, गजसंचालन, लक्ष्यवेध और मृगया से अधिक अनुराग हो गया और यही मानो इनके बाल्यावस्था में क्रीड़ा की सामग्री थी। ये निज सहचरों के संग प्रायः घुड़दौड़ करते और शिकार खेलते थे।

संवत् १,९२४ मे ये वहाँ से फैजाबाद चले आए और वहाँ के जिला स्कूल मे पढने लगे। उसी वर्ष इनका विवाह भी वड़ी धूमधाम से जिला जौनपुर के समसा ग्राम में हुआ। संवत् १९२५ मे इनके पितामह का स्वर्गवास होने से इन्हे मिर्जापुर लौटकर पुन जिला स्कूल मे पढना पडा और सवत् १९२७ के आरभ में इन्हे स्कूल का पढना छोड़ स्वतत्र मास्टर से पढने और घर के कार्यो की देख-भाल मे लगना पडा। फिर इनके पिता ने इन्हे सस्कृत पढाना आरभ किया क्योकि वे हिंदी, फारसी के अतिरिक्त सस्कृत मे अच्छे पडित और उसके विशेष अनुरागी थे। उन्हे प्राय अन्य नगरो और विदेशो में भ्रमण करना पडता था, इसी से अपने पारिषद्-वर्गो मे से पडित रामानद पाठक को जो एक अच्छे विद्वान् थे, इन्हे पढाने के लिये नियुक्त किया। इन पडित जी के कारण इन्हे कविता से अनुराग हुआ और ये ही इनके मानो कविता के भी गुरु थे। किंतु घर के कामो मे पडने से इनकी प्रकृति मे भी परिवर्तन हो चला। क्रमश आनद, विनोद, मनबहलाव की सामग्रियाँ प्रस्तुत होने लगी, पर साथ ही साहित्य की चर्चा भी रही। सगीत पर इनका अनुराग सबसे अधिक प्रबल हुआ और ताल-सुर की परख बेहद बढ चली। निदान अब चित्त दूसरी ही ओर लग चला तथा भाँति भाँति के कार्यो के सग दूसरे-दूसरे नगरों के परिभ्रमण मे भी न्यूनता न रही। सवत् १९२८ मे ये प्रथम बार कलकत्ते गए और वहाँ से लौटने पर बरसो बीमार पडे रहे, जिसमें इन्हे साहित्य-सबधी विशेषत ब्रजभाषा के बहुत-से प्राचीन ग्रथो को देखने और सुनने का अवसर मिला। सवत् १९२९ मे इनसे पडित इंद्रनारायण शंगलू से मित्रता हुई जो बहुत ही कुशाग्रबुद्धि, कार्य्यपटु, नवीन विचार के तथा देशहित करनेवाले मनुष्यो में से थे। इनके द्वारा इन्हें सभा, समाज

और समाचार-पत्रो से अनुराग तथा उर्दू-शायरी मे उत्साह बढा। इन्ही के द्वारा भारतेंदु बाबू हरिश्चद्र जी से चौधरी साहब की जान-पहिचान हुई जो क्रमश मैत्री में परिणत हो गई। यह मैत्री उत्तरोत्तर दृढ होती गई और अत तक उसका पूरा निर्वाह हुआ। सवत् १९३० में इन्होने "सद्धर्मसभा" और १९३१ में "रसिकसमाज" तथा यो ही क्रमश और कई सभाएँ स्थापित की। १९३२ में इन्होने कई कविताएँ लिखी और १९३३ मे इनके कई लेख कविवचनसुधा में छपे। बस अब तो उत्तरोत्तर कई कविताएँ लिखी गईं। सवत् १९३८ मे आनदकादबिनी की प्रथम माला प्रकाशित हुई और १९४९ मे "नागरीनीरद" साप्ताहिक समाचारपत्र का सपादन आरभ हुआ। इन दोनो पत्र और पत्रिकाओ मे इनके अनेक गद्य-पद्यात्मक लेख आदि छपे। इनकी केवल वे ही कृतियाँ प्रकाशित हो सकी जो समय के अनुरोध से अत्यावश्यक जान पड़ी और चटपट निकल गईं जैसे "भारतसौभाग्य नाटक," "हार्दिक हर्षादर्श," "भारतबधाई," "आर्य्याभिनदन" इत्यादि, अथवा जो बहुत आग्रह की माँग के कारण लिखी गईं यथा—"वर्षाबिंदु" वा "कजलीकादबिनी।" इसका कारण यह था कि इनकी कविता का उद्देश्य प्राय निज मन का प्रसादमात्र था, इसी से ये उसके प्रचार वा प्रकाशित करने के विशेष प्रयासी न हुए और न इसके द्वारा धन, मान या ख्याति के अभिलाषी हुए। इसी से स्वस्थता तथा प्रसन्नता के समय जब जिस विषय पर चित्त आया वह लिखा और जहाँ से उचटा छोड दिया। लिखने-पढने के विषय मे बारबार इनका बढता हुआ उत्साह घर के लोगो ने ऐसा भग किया कि ये प्राय इस अश में उत्साह-हीन-से हो गये। निस्सदेह इनकी निरतर पारिवारिक परतत्रता इनके विद्या-वैभव की बड़ी बाधक हुई। तिस पर भी जो कुछ अब तक प्रकाशित

हुआ है वही इनकी कुशाग्रबुद्धि और कविताशक्ति का परिचायक है। कविता में ये अपना नाम प्रेमघन रखते थे। सन् १९१२ के अंत में कलकत्ते में हिंदी-साहित्य-सम्मेलन का तीसरा अधिवेशन हुआ था। उसके आप सभापति थे।

इनकी शैली में यह विशेषता थी कि वे जो कुछ लिखते उसे कई बार दुहराकर परिमार्जित और परिष्कृत करते। अनुप्रास की ओर इनका विशेष ध्यान रहता। साधारण रीति से किसी बात को कहना इन्हें पसद न था। उपनाम प्रेमघन था और उसी के अनुसार "नगरी नीरद" नाम का पत्र भी निकला था जिसके प्रत्येक शीर्षक उस नाम के अनुकूल थे जैसे—सपादकीय-सम्मतिसमीर, प्रेरितकलापिकलरव, हास्यहरितांकुर, वृत्तातबलकावलि, काव्यामृतवर्षा, विज्ञापनबीर- बहूटियाँ, नियमनिर्घोष।

इनकी भाषा दो प्रकार की मिलती है, एक सस्कृत-गर्भित दूसरी उर्दू मिश्रित। इनकी भाषा में स्वाभाविकता कम और बनावट अधिक रहती थी। यद्यपि इनका पहनावा और बनावट प्रायः नाटकीय रहता था, पर नाट्य-विद्या में वे अभिनय के नियमो से सर्वथा अनभिज्ञ थे। भारतसौभाग्य इसका एकमात्र उदाहरण है। यदि इसका अभिनय सारी रात किया जाय तो भी वह समाप्त नही हो सकता।

इनका देहात १४ फरवरी सन् १९२३ को हुआ।

फुटकर कविताओ और लेखो के अतिरिक्त इनके निम्नलिखित ग्रथ प्रकाशित हुए हैं—

भारतसौभाग्य नाटक, प्रयागरामगमन नाटक, हार्दिक हर्षादर्श काव्य, भारतबधाई, आर्य्याभिनदन, मंगलाशा, कलम की कारीगरी, शुभ सम्मिलन काव्य, आनदअरुणोदय, युगलमंगलस्त्रोत्र, वर्षा-विंदु-गान, वसतमकरदविदु, कजलीकादंबिनी, वारागनारहस्य नाटक

पंडित विनायकराव ।

(अपूर्ण), संगीतसुधासरोवर, पीयूषवर्षा, आनंदबधाई, पितरप्रलाप, कलिकालतर्पण, मन की मौज, युवराजाशिष, स्वभावबिंदुसौंदर्य, शोकाश्रुबिंदु, विधवाविपत्तिवर्षा, भारतभाग्योदय, कांताकामिनी, बुद्धिविलाप, आत्मोल्लास, दुर्दशादत्तावर। इनकी समस्त कृतियों का संग्रह हिंदी-साहित्य-सम्मेलन प्रकाशित कर रहा है।

(१६) पंडित विनायकराव

पंडित विनायकराव का जन्म संवत् १९१२ की पौषशुक्ला १० (सन् १८५५ ई०) को सागर जिले में हुआ था। ये सनाढ्य ब्राह्मण थे। बचपन ही में इनके पिता इन्हें छोड़कर स्वर्ग सिधारे थे। जन्म-स्थान में ही इनका विद्यारंभ हुआ। सागर के हाई स्कूल से इन्होंने एंट्रेंस पास किया। इसके पीछे सागर के हाई स्कूल के जबलपुर उठ आने पर ये भी उसके साथ वहीं चले आए और सन् १८७५ में ये एफ० ए० की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। इसके अनंतर बी० ए० पढ़ने के लिये इन्हें सरकार से १५) मासिक की छात्रवृत्ति मिली। उस समय मध्यप्रदेश में कहीं बी० ए० की पढ़ाई नहीं होती थी, उसके लिए लखनऊ जाना पड़ता था। कई कारणों से ये लखनऊ न जा सके और इनकी शिक्षा यहीं समाप्त हो गई।

सन् १८८६ के मई मास में ये मुरवाड़ा के मिडिल स्कूल में २५) मासिक पर प्रथम अध्यापक नियत हुए। कुछ दिनों पीछे ये सागर के हाई स्कूल में सहकारी अध्यापक होकर चले गए और तीन ही मास के अनंतर ५०) पर हेड मास्टर होकर फिर मुरवाड़ा लौट आए। कोई डेढ़ वर्ष वहाँ रहकर ६०) पर जबलपुर के नार्मल स्कूल में चले गए। कुछ समय पीछे १००) मासिक पर ये हुशंगाबाद हाई स्कूल के हेड मास्टर

हो गए। इनकी पढाई का फल यहाँ तक अच्छा होता था कि इनके पढाए प्रायः सभी छात्र पास हो जाया करते थे। इससे उस प्रान्त मे पडित जी की बहुत प्रसिद्धि हुई। एक बार चीफ कमिश्नर ने तार-द्वारा इन पर अपनी प्रसन्नता प्रकट की थी। कुछ काल उपरात १५०) वेतन पर ये जबलपुर के नार्मल स्कूल के सुपरिंटेडेट नियत हुए, जहाँ ये पाँच वर्ष तक रहे। फिर ये नागपुर के ट्रेनिंग इस्टीटयूशन मे बदल दिए गए, जहाँ इन्हे २२०) मासिक मिलते रहे। वहाँ इन्होने कई बी० ए० पास लोगो को पढाया और उन्हे पास कराया। इसके पीछे ट्रेनिंग इस्टीटयूशन नागपुर से उठकर जबलपुर आया और ये भी उसी के साथ जबलपुर आए। इस प्रकार ३४ वर्ष तक इन्होने शिक्षा-विभाग मे बडी योग्यता से काम किया और अच्छा नाम पाया। इनकी योग्यता का पता चीफ कमिश्नर की वार्षिक रिपोर्ट तथा अन्य अँगरेज अफसरो के दिए हुए सार्टिफिकेटो से मिलता है। मुरवाडा जिला स्कूल की हेड मास्टरी के समय इन्होने वहाँ एक सस्कृत-पाठशाला खोली थी जो अभी तक चल रही है और भली भाँति अपना काम कर रही है।

पंडित जी हिंदी भाषा के बडे प्रेमी थे। इन्होने लगभग २० पुस्तके लिखी है जिनमें से कई मध्यप्रदेश के स्कूलो मे पढाई जाती है। कई पुस्तको के लिये शिक्षा-विभाग से इन्हे पारितोषिक भी मिला है। पहली, दूसरी, तीसरी और चौथी पुस्तको के लिये इन्हें १,०००) का पारितोषिक मिला था। इनकी कई पुस्तको की दस-दस आवृत्तियाँ हो चुकी हैं। वैज्ञानिक कोष के सपादन के समय जब काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने मध्य-प्रदेश के शिक्षा-विभाग के इंस्पेक्टर-जनरल (जो आज-कल डाइरेक्टर कहलाते है) से एक प्रतिनिधि भेजने की प्रार्थना की थी तब उन्होने पडित जी को ही प्रतिनिधि बनाकर भेजा था। इस कार्य में इन्होने
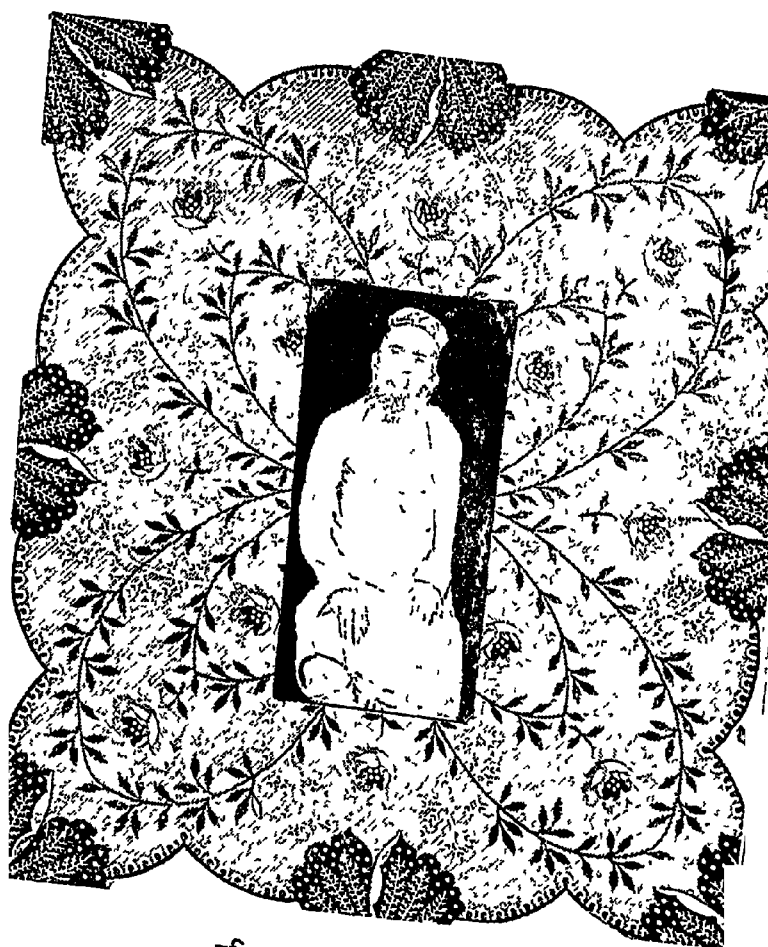
पडित प्रतापनारायण मिश्र ।

अच्छी सहायता दी थी। उसी समय से नागरी-प्रचारिणी सभा के ये स्थायी सभासद् हो गए। जबलपुर के श्रीभानुकविसमाज ने २२ जनवरी सन् १९०४ को एक अधिवेशन करके इन्हे "नायक" कवि की उपाधि से सम्मानित किया था।

अँगरेजी तथा हिंदी के अतिरिक्त ये सस्कृत, उर्दू और मराठी भाषाएँ भी भली भाँति जानते थे। ये बहुत मिलनसार और विनोद-प्रिय थे। इनका अधिकाश समय पुस्तके पढने मे ही बीतता था। नेत्रो के निर्बल हो जाने पर भी ये सदा साहित्य-सेवा मे लगे रहते थे। इनका देहात सवत् १९८१ की ज्येष्ठशुक्ला १० को हुआ।

इनकी सबसे महत्त्व की कृति तुलसीकृत रामायण की टीका है जो वैनायकी टीका के नाम से प्रसिद्ध है। इससे अच्छी टीका अब तक दूसरी नही निकली है। इन्होने काव्यकुसुमाकर दो भागो मे लिखा था जो अपने विषय का अच्छा ग्रथ है।

(१७) पंडित प्रतापनारायण मिश्र

पडित प्रतापनारायण मिश्र कात्यायन गोत्रीय कान्यकुब्ज ब्राह्मण बैजेगाँव के मिश्र थे। यह बैजेगाँव अवध के जिले मे उन्नाव से थोडी दूर पर है। पडित प्रतापनारायण के पिता का नाम सकटाप्रसाद, पितामह का रामदयाल और प्रपितामह का रामसेवक था। इनके पिता सकटा-प्रसाद १४ वर्ष की आयु मे कानपुर में आ बसे थे। वे एक अच्छे ज्योतिषी थे। इसलिये धीरे-धीरे उनकी आर्थिक अवस्था अच्छी होती गई और कुछ दिनो में उन्होने रियासत भी पैदा कर ली।

पडित प्रतापनारायण का जन्म आश्विन कृष्ण ९ सवत् १९१३ (सन् १८५६ ई०) में हुआ था। इनके पिता ने इन्हें अपनी तरह

ज्योतिर्विद् बनाना चाहा परतु इनकी उस ओर रुचि न थी, इसलिये उन्होने लाचार होकर इन्हे अँगरेजी मदरसे मे पढने बैठाया। पर थोडे ही दिनो मे इन्होंने वह मदरसा भी छोड दिया और पादरियो के एक मिशन स्कूल मे भरती हुए। परतु इनका पढ़ने-लिखने मे मन नहीं लगता था। इसलिये अँगरेजी भाषा मे कुछ थोडा-सा ज्ञान प्राप्त करके सन् १८७५ ई० के लगभग इन्होने वह स्कूल भी छोड दिया। इसके कुछ दिनो पीछे इनके पिता का देहात हो गया और उसी दिन से इनके विद्याध्ययन की भी इतिश्री हुई। अँगरेजी के साथ मे इनकी दूसरी भाषा हिंदी थी, पर इन्होने उर्दू मे भी अच्छा अभ्यास कर लिया था। इसके साथ ही वे कुछ-कुछ सस्कृत और फारसी भी जानते थे।

पडित प्रतापनारायण मिश्र के हृदय मे काव्य का बीज उसी समय मे जम चुका था जब कि ये छात्रावस्था मे थे। उस समय बाबू हरिश्चद्र का कवि-वचन-सुधा खूब जोर पर था। उसके गद्य-पद्य लेख बडे ही प्रभावोत्पादक और मनोरजक होते थे। पडित प्रतापनारायण उसे बड़े प्रेम से पढते थे। उसी समय कानपुर मे लावनी की बडी चर्चा थी। प्रसिद्ध लावनीबाज बनारसीदास वहाँ महीनों रहते थे। कानपुर मे उसी समय पंडित लालताप्रसाद त्रिवेदी उपनाम ललित एक अच्छे कवि हो गए हैं। अस्तु, पडित प्रतापनारायण मिश्र को लावनी सुनने का चस्का लग गया। जहाँ लावनी का दगल होता वहाँ ये अवश्य जाते और समय-समय पर "ललित-कवि" के पास भी आते-जाते। परिणाम यह हुआ कि भृंगी के कीट की तरह उक्त कवि महाशय और लावनीबाजो की आशु कविता सुनते-सुनते ये स्वयं एक अच्छे कवि हो गए। इन्होंने ललित कवि से छद शास्त्र के नियम भी पढ़े और उन्हीं को अपना गुरु मानकर कविता करने लगे।

कहा जा चुका है कि हिंदीसमाचारपत्र पढने का शौक इन्हे लड़कपन से ही लग गया था और यही कारण है कि ये केवल समस्यापूर्ति करनेवाले कवि न होकर एक सच्चे साहित्य-सेवी हुए। अपने दो-एक मित्रो की सहायता से इन्होने १५ मार्च १८८३ से "ब्राह्मण" नाम का एक मासिक पत्र प्रकाशित करना आरभ कर दिया। ब्राह्मण के लेख प्रायः हास्यरम्यमय व्यंग्यपूर्ण परतु शिक्षाप्रद होते थे। इनकी हिंदी खूब मुहाविरेदार होती थी। ये अपने लेखो में कहावतो और चलतू चुटकुलो का प्रयोग अधिक करते थे, इसी से इनके मिसरे चुटीले होते थे। ये फारसी और संस्कृत मे भी कविता करते थे और वह कविता भी इनकी ऐसी ही सरल, रसीली और प्रभावोत्पादक होती थी जैसी कि हिंदी की।

सन् १८८९ ई० मे पडित प्रतापनारायण कालाकाँकर गए और वहाँ "हिंदी हिंदोस्थान" के सहकारी सपादक नियत हुए, परतु स्वच्छद स्वभाव के होने के कारण वहाँ ये बहुत दिनो तक न रह सके। मिस्टर ब्रैडला के विलायत से हिंदुस्तान मे आने पर इन्होने ब्रैडला-स्वागत-शीर्षक एक कविता रची थी। उसकी बडी प्रशसा हुई। यहाँ क्या विलायत तक में इनका नाम हो गया। वे हिन्दी भाषा तथा देवनागरी-लिपि के बडे पक्षपाती थे। यदि इसके विरुद्ध कोई जरा भी चूँ करता तो आप उसके विपक्ष मे ब्राह्मण के कालम के कालम रँग डालते थे। आप बाबू हरिश्चद्र जी के बडे भक्त थे। इन्होने कुल १२ पुस्तको का भाषानुवाद किया और २० पुस्तके लिखी। इनकी अनुवाद की या लिखी हुई सब पुस्तके प्राय. मनोरंजक और शिक्षापूर्ण है।

पडित प्रतापनारायण का रँग गोरा और शरीर दुबला था। इनकी रहन-सहन साधारण थी पर वे स्वभाव के स्वच्छद असहनशील

और अपने मन के मौजी पुरुष थे। चिट्ठियो के उत्तर देने मे आलसी थे। शरीर से प्राय. रोगी रहा करते थे। इन्हे नाट्य-कौशल से विशेष प्रेम था और ये स्वय उसमें निपुण थे। इनके सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक विचार स्वतंत्र थे और ये काग्रेस को अच्छा समझते थे। मिति आषाढ सुदि ४ सवत् १९५१ को इनकी मृत्यु हुई।

पडित प्रतापनारायण मिश्र की विशेषता उनके हास्यविनोदपूर्ण और व्यंग्य लेखनप्रणाली मे थी। उसमे वे चलते हुए दिहाती मुहाविरो का प्रयोग भी बड़ी मनोहरता से करते थे, पर उच्च कोटि के लेखो मे उनकी भाषा बहुत कुछ सयत हो जाती थी। इनके अनुवाद किए हुए राजसिंह, इदिरा, राधारानी और युगलागुलीय उपन्यास माने जाते है, पर समे सदेह की मात्रा भी है। कुछ तत्कालीन लेखको का मत था कि ये उनके अनुवाद किए हुए नही है, हाँ, उनके नाम से अवश्य छपे है। जो कुछ भी हो, पडित प्रतापनारायण मिश्र भारतेंदु हरिश्चद्र के सहयोगियो और अनुगामियों में थे और हिंदी के बड़े पक्षपाती और समर्थक थे। प्राय रोग-ग्रस्त रहने के कारण थोडी ही अवस्था में इनका परलोकवास हुआ। ब्राह्मणपत्र केवल १० वर्ष तक चला। उसके पुन. प्रकाशन का उद्योग भी हुआ पर सफल न हो सका। इनकी कविता बडी चुटीली होती थी।

इनके ग्रंथ ये है—राजसिंह, इदिरा, राधारानी, युगलागुलीय, चरिताष्टक, पचामृत, नीतिरत्नावली, कथामाला, सगीत शाकुतल, वर्णपरिचय, सेनवश और सूबे बगाले का भूगोल, कलिकौतुक रूपक, कलिप्रभाव नाटक, हठी हम्मीर नाटक, गोसकट नाटक, जुआरी-खुआरी

ठाकुर जगमोहनसिंह ।

प्रहसन, प्रेमपृष्ठावली, मन की लहर, शृंगारविलास, दगल-खड, लोकोक्तिशतक, तृप्यताम्, बैंडला-स्वागत, भारत-दुर्दशा, शैव सर्वस्व, प्रतापसग्रह, रसखानशतक, मानस-विनोद, शिशु-विज्ञान, स्वास्थ्य-रक्षा।

(१८) ठाकुर जगमोहनसिंह

ठाकुर जगमोहनसिंह के पूर्वजो का सबध जयपुर राजघराने से था। ये लोग इक्ष्वाकुवशीय जोगावत कछवाहे राजपूत हैं। आमेर के राजा कुतलदेव के मँझले भाई आनलसिंह के पाँच पुत्र हुए। इनके पुत्र बालोजी गाजी के थाण में रहते थे। बालोजी के पुत्र खडेराय के आठ पुत्र हुए जिनमे ज्येष्ठ पुत्र भीमसिह आपस की अनबन के कारण घर छोड़ पन्ना मे आ बसे। इनके पुत्र वेणीसिंह काल पाकर पन्ना के राजमत्री नियत हुए। एक युद्ध में ये मारे गए। तब पन्नानरेश ने इनके पुत्र गजसिंह को "राजधरबहादुर" की पदवी दी और मैहर का इलाका पुरस्कार मे रहने के लिये दिया। राजकाज मे फँसे रहने के कारण इन्होने अपने मँझले भाई ठाकुर दुर्जनसिह को मैहर रियासत का सब प्रबध सौंप दिया। बडे भाई के मरने पर ठाकुर दुर्जनसिह रियासत के मालिक हुए। इनके दो पुत्र थे। एक विष्णुसिह और दूसरे प्रयागदाससिंह। भाइयो मे अनबन होने पर राज्य का बँटवारा हो गया। विष्णुसिह मैहर मे रहे और प्रयागदाससिह ने दक्षिण भाग में विजयराघवगढ़ बना-कर उसे अपनी राजधानी नियत किया। इनके पुत्र ठाकुर सरयूसिहजी हुए। जब पिता मरे तब इनकी अवस्था पाँच बरस की थी। अतएव राज्य का प्रबध गवर्मेंट ने अपने हाथ में ले लिया। इसके १२ वर्ष पीछे सन् ५७ का बलवा हुआ। इस समय ठाकुर सरयूसिह १७ वर्ष के

थे। कुछ लोगो के बहकाने मे आकर ये ब्रिटिश गवर्मेंट के विरुद्ध खडे हो गए। परिणाम यह हुआ कि राज्य जब्त हो गया। इस समय इनके पुत्र ठाकुर जगमोहनसिंह की अवस्था केवल छः महीने की थी। इनका जन्म संवत् १९१४ श्रावणशुक्ला १४ को हुआ था। सन् १८६६ मे ठाकुर जगमोहनसिंह बनारस मे पढ़ने के लिये भेजे गए। यहाँ इन्होने अँगरेजी, संस्कृत, हिंदी, बँगला, उर्दू आदि भाषाएँ सीखी और उनमे अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। १६ वर्ष की अवस्था मे इन्होने कालिदास के कई छोटे-छोटे काव्यों का हिंदी छंदोबद्ध अनुवाद किया। काशी मे इनसे भारतेंदु हरिश्चंद्र जी से बहुत स्नेह हो गया। इनका समय यहाँ पढने और सत्संग से बीतता था। यहाँ से पढकर सन् १८८० ई० मे ये धमतरी (रायगढ म० प्र०) मे तहसीलदार नियत हुए और दो ही वर्ष में अपनी योग्यता के कारण एक्स्ट्रा असिस्टेंट कमिश्नर हो गए। विद्या का इन्हे पूरा व्यसन था। सरकारी काम करने के अनंतर जो समय बचता उसे ये लिखने-पढने मे बिताते। इसी अवस्था मे श्यामास्वप्न आदि ग्रंथ लिखे गए। इसी सेवा-वृत्ति मे इन्हे प्रमेह रोग हो गया। डाक्टरो ने जलवायु बदलने का परामर्श दिया। निदान छ महीने तक ये भिन्न-भिन्न स्थानो मे घूमते रहे। रोग कुछ कम हुआ पर जड़ से न गया। परिभ्रमण के अनंतर घर लौटने पर कूचबिहार स्टेट काउंसिल के ये मंत्री नियत हुए। महाराज कूचबिहार काशी मे इनके सहपाठी थे। दो वर्ष तक इन्होने यहाँ बडी योग्यता से कार्य्य किया, पर रोग ने यहाँ भी पीछा न छोडा। अंत मे हारकर नौकरी छोड़ अपने देश को लौटना पडा। अनेक उद्योग किए गए पर रोग अच्छा न हुआ। सन् १८९९ के मार्च महीने मे एक पुत्र और एक कन्या छोड़ आप परधामगामी हुए।

लाला सीताराम ।

इनके बनाए ग्रंथ ये है—श्यामास्वप्न, श्यामासरोजनी, प्रेमसपत्ति-लता, मेघदूत, ऋतुसहार, कुमारसम्भव, प्रेमहजाग, सज्जनाष्टक, प्रलय, ज्ञानप्रदीपिका, साख्य (कपिल) सूत्रो की टीका, वेदातसूत्रो (बादरायण) पर टिप्पणी, हसदूत, बानीबाईविलाप। इनमे से कुछ ग्रथ अमुद्रित और कुछ अपूर्ण है।

ठाकुर साहब की संस्कृत और भाषा-योग्यता बहुत बढी-चढी थी। जिन्होने इनका श्यामास्वप्न या मेघदूत पढा होगा उन्हे इसका परिचय मिल गया होगा। इनका स्नेह अनेक अच्छे-अच्छे राजा-महाराजों से था। इनका स्वभाव उदार, गुणग्राही और मिलनसार था। ये प्रकृति के सौंदर्य पर मोहित थे। विन्ध्याटवी के रम्य प्रदेशों का इन्होने भ्रमण किया था और उसकी छाप उन पर अमिट रूप से पड गई थी। श्यामास्वप्न मे जो प्राकृतिक दृश्यो के वर्णन है वे प्राकृतिक सौंदर्य मे इनकी तल्लीनता के साक्षात् प्रमाण है।

(१९) रायबहादुर लाला सीताराम

लाला सीताराम जाति के श्रीवास्तव (दूसरे) कायस्थ थे और इनके वंश के लोग पहले जौनपुर मे रहते थे। पर इनके पिता प्रसिद्ध बाबा रघुनाथदास के शिष्य हो गए थे अतएव वे जौनपुर छोड अयोध्या मे आ बसे। यही २० जनवरी सन् १८५८ को इनका जन्म हुआ। इनका विद्यारभ बाबा रघुनाथदास ही ने कराया था, पर इसके पीछे एक मौलवी साहब उर्दू-फारसी पढाने के लिये नियत हुए। सौभाग्यवश उक्त अध्यापक कुछ हिंदी भी जानते थे अतएव लाला सीताराम ने उर्दू के साथ कुछ हिंदी भी पढी, पर इनके पिता वैष्णव थे और बाबा रघुनाथदास के शिष्य थे अतएव उन्हे धर्म-सबधी भाषा-ग्रथो से बडा

अनुराग था। लाला सीताराम बालपन में अपने पिता के ग्रंथो को प्रायः पढ़ा करते। इसी से उन्हे हिंदी का ज्ञान और उससे प्रेम उत्पन्न हो गया।

इसके कुछ काल अनंतर इन्होने अँगरेजी पढ़ना आरंभ किया और सब परीक्षाएँ बड़ी सफलता से पास की। सन् १८८९ मे बी० ए० की परीक्षा में इनका नंबर सबसे ऊपर रहा। एफ० ए० की परीक्षा मे इन्होंने संस्कृत का अध्ययन किया और बी० ए० की परीक्षा के लिये विज्ञान पढा। पीछे से सन् १८९० मे इन्होंने वकालत की परीक्षा भी पास की।

पहले-पहल ये अवध अखबार के संपादक हुए और दो ही महीने पीछे उसे छोड़कर बनारस-कालेज के स्कूल-विभाग मे तीसरे अध्यापक हुए। तीन ही महीने पीछे (अगस्त १८७९ ई० में) ये हेड मास्टर बनाकर सीतापुर भेजे गए। यहाँ दो वर्ष काम करके फैजाबाद मे सायंस-मास्टर होकर आए। एक वर्ष यहाँ काम करने पर फिर बनारस में सेकेंड मास्टर होकर आए। यहाँ ये ५ वर्ष रहे और उस काल में आपको संस्कृत-अध्ययन का अच्छा अवसर मिला। फिर तो कई स्थानों मे हेड मास्टर रहकर ये असिस्टेंट इंस्पेक्टर हुए। इसके अनंतर सन् १८९५ में ये डिप्टी कलेक्टर नियत किए गए। इसी पद से इन्होने सन् १९०९ में पेंशन ली।

हिंदी मे अच्छी योग्यता होने के कारण और बहुत काल तक काशी मे अच्छे-अच्छे पंडितो का सहवास रहने से ये हिंदी की अच्छी सेवा कर सके है। इनका हिंदी का पहला ग्रंथ मेघदूत का अनुवाद है जो सन् १८८३ मे प्रकाशित हुआ। इसके अनंतर इस प्रकार इन्होने ग्रंथ प्रकाशित किए—

(२) कुमारसभव १८८४
(३) रघुवश (सर्ग ९ से १५ तक) १८८५-१८९२
(४) नागानद १८८७
(५) ऋतुसहार १८९३
(६) शृगारतिलक

इसी बीच मे शेक्सपियर के कई नाटको का अनुवाद इन्होने उर्दू में छापा। एक भूलभुलैया, दूसरा दामे मुहब्बत, तीसरा शाहलीयर और चौथा दरियाए तिलिस्म के नाम से छपा। इसके अनतर डिप्टी-कलेक्टरी के जजाल मे पडने से ग्रथ-रचना के काम में कई वर्षो तक ढील रही। फिर इन्होने सस्कृत के कई नाटको का अनुवाद छापा, जिनमे उत्तर-रामचरित, मालविकाग्निमित्र, मृच्छकटिक, महावीरचरित और मालती माधव मुख्य है। हितोपदेश और प्रजाकर्तव्य-कर्म ये दो ग्रथ इन्होने और लिखे। कुछ काल तक गणित के प्राचीन ग्रथो के छापने का भी उद्योग किया था।

सस्कृत के काव्य-रत्नो को भाषा मे लिखकर छापने का गौरव सबसे अधिक लाला सीताराम को प्राप्त है। आनद इस बात का है कि ये अत काल तक अपने विद्या-व्यसन मे लगे रहे। डिप्टी-कलेक्टर होने पर भी शिक्षा-विभाग से इनका सबध नही छूटा। ये प्राय भिन्न-भिन्न परीक्षाओ मे परीक्षक नियत हुए थे तथा कई वर्ष तक युनिवर्सिटी के फेलो और टेक्स्टबुक कमेटी के मेंबर भी रहे।

लाला सीताराम ने पहले उर्दू मे लिखना आरभ किया था। उर्दू मे उनका उपनाम 'अज्म' था। हिंदी में जब ये कविता करने लगे तो उसे 'भूप' उपनाम से प्रकाशित करते थे। इनका अतिम ग्रथ "अयोध्या का इतिहास" है। इन्होने राजापुर के अयोध्याकाड का एक

सस्करण भी प्रकाशित किया था। लाला साहव की भाषा सीधी, पर पुष्ट और प्रांजल थी। इन्होने सस्कृत नाटकों का अनुवाद करके हिंदी भाडार की पूर्ति का स्तुत्य उद्योग किया था। इन्होंने विशेषकर दोहा, चौपाई और घनाक्षरी छदो का प्रयोग किया। कलकत्ता विश्वविद्यालय के लिये इन्होंने कई भागो मे हिंदी-साहित्य के चुने चुने अशो का संग्रह किया था । इनकी सेवाओ के उपलक्ष मे गवर्मेंट ने इन्हें राय-वहादुर की पदवी दी थी। इनका देहात सवत् १९९३ (२ जनवरी सन् १९३७) मे ७९ वर्ष की अवस्था मे हुआ ।

(२०) पंडित राधाचरण गोस्वामी

पडित राधाचरण गोस्वामी जी गौड ब्राह्मण थे। इनका जन्म फाल्गुन कृष्ण ५ संवत् १९१५ तारीख २५ फरवरी सन् १८५९ ई० को हुआ था। इनके पिता का नाम श्री गोस्वामी लल्लू जी था। वे वृंदावन में श्रीराधारमण के मदिर के गोस्वामी-सम्प्रदाय के आचार्य्य थे ।

सवत् १९२१ मे गोस्वामी राधाचरण जी का कर्णवेधसस्कार हुआ और उसी समय से इनका विद्याध्ययन आरभ हुआ। इनकी माता स्वयं पढ़ी-लिखी थी। अस्तु, जो कुछ ये गुरु जी से पढ़ते थे उसे वे स्वय सुन लिया करती थी परतु सवत् १९२३ मे जव इनका देहात हो गया तव ये अपने पिता के समीप रहने लगे। कार्यवशात् जहाँ-जहाँ इनके पिता को वाहर जाना पड़ता था वहाँ-वहाँ ये भी उनके साथ जाते, पर इससे इनके पढने-लिखने मे किसी प्रकार की वाधा नहीं पड़ती थी। संवत् १९२७ मे इन्होने नियमित रूप से सस्कृत का अध्ययन आरभ किया। पहले इन्होने व्याकरण और कुछ काव्य पढ़ा और फिर श्रीमद्भागवत और अपने गोस्वामी-सम्प्रदाय के धर्म-ग्रथ पढ़े ।

पंडित राधाचरण गोस्वामी ।

संवत् १९३० में जब आप फर्रुखाबाद में पंडित उमादत्त जी के पास कौमुदी पढ़ते थे तब यहाँ के गवर्मेंट स्कूल में शहर के संस्कृत-विद्यार्थियों की परीक्षा ली गई। उसमें ये भी सम्मिलित थे। अतएव वहाँ अँगरेजी-शिक्षा का प्रभाव और परीक्षा का ढंग देखकर इन्हें अँगरेजी पढ़ने का चाव हुआ। इन्होंने फर्रुखाबाद के जिला-स्कूल में अपना नाम लिखा लिया। यह समाचार पाकर इनकी शिष्य-मंडली में बड़ा हलचल मचा। लोगों ने चारों ओर से डाँट बताना आरंभ किया कि यदि म्लेच्छ भाषा पढ़ोगे तो हम तुम्हें छोड़ देंगे। तब तो जीविका जाते देखकर इन्हें विवश हो अँगरेजी पढ़ना छोड़ देना पड़ा। उसी समय काशी से हरिश्चंद्र मेगजीन प्रकाशित होने लगा था। उसे पढ़कर इनकी देश-सेवा की ओर प्रवृत्ति हुई।

संवत् ३२ में इन्होंने अपने मित्र श्रीगोस्वामी मधुसूदन जी से मिलकर "कविकुल कौमुदी" नाम की सभा स्थापित की जिसका मूल उद्देश्य हिंदी और संस्कृत की पुष्टि करना था। इस सभा के प्रथम ही अधिवेशन के तीन दिन पहले इनकी स्त्री का देहांत हो गया। परंतु शोकग्रस्त अवस्था में भी ये सभा में सम्मिलित हुए। उस समय भी परम वैष्णव लोगों ने सभा को एक अनोखी बात समझकर विरोध किया, परंतु इन्होंने किसी से प्रतिवाद न करके कार्य करते जाना ही अपना ध्येय माना।

उसी वर्ष इनका दूसरा विवाह हो गया। इन्होंने अपनी इस दूसरी पत्नी को स्वयं शिक्षा देकर एक सुयोग्य विदुषी स्त्री बनाया। सभा सोसाइटियों के समागम से इन्होंने भिन्न-भिन्न धर्मों के ग्रंथ पढ़े जिससे इनकी विशेष ज्ञान-वृद्धि हुई। परंतु इनकी ब्राह्म-धर्म पर कुछ विशेष रुचि हुई और ये "हिंदुबांधव" में ब्राह्म-धर्म के पक्ष में लेख भी लिखने लगे,

परंतु बाबू हरिश्चंद्र जी के गुप्तरूप से कटाक्ष करने पर इन्होंने ब्राह्म-धर्म से अपना संबंध तोड़ दिया। फिर इन्होंने आर्यसमाज के ग्रंथ पढे और स्वामी दयानद जी से साक्षात् प्रश्नोत्तर किए। स्वामी जी पर आपकी विशेष श्रद्धा थी।

सवत् १९३४ से इन्होने अपनी जीविका भी सँभाली और कलम भी। सवत् १९४० तक के प्रायः सब हिंदी के पत्रों में आपके लेख पाए जाते है। सब लेख गूढ और प्रभावजनक है। सब लेखों की सख्या कोई दो सौ होगी पर कोई-कोई लेख तो इतने बड़े है कि जिनकी एक अलग पुस्तक बन सकती है। सन् १८८३ में इन्होने "भारतेदु" मासिक पत्र निकाला पर सहायता के अभाव से इसे बंद कर देना पड़ा। सन् १८८४ ई० मे प्रयाग मे हिंदी-पत्र-संपादको की एक सभा हुई थी; उसके आप मत्री थे।

सन् १८८६ में इन्हे काग्रेस का प्रतिनिधि होकर कलकत्ता जाना पड़ा। वहाँ से आकर इन्होने "विदेश-यात्रा-विचार" और "विधवा-विवाह-विवरण" दो ग्रथ समाज-सुधार पर लिखे। सन् १८८५ मे ये वृंदावन के म्युनिसिपल कमिश्नर चुने गए। इस पद पर इन्होने बडी स्वतत्रता, योग्यता और सावधानी से कार्य किया। सन् १८९३ में इन्होने मथुरा की डिविजनल काग्रेस कमेटी के मंत्री का कार्य किया।

इसके अनतर आप वृदावन के आनरेरी मजिस्ट्रेट और म्युनिसिपल कमिश्नर रहे। यद्यपि आप पक्के सनातन-धर्म्मावलबी थे परतु किसी मत से द्वेष नही रखते थे वरन वर्तमान समाज-सुधार के पक्षपाती थे।

सन् १८८३ मे जब कि शिक्षा-कमिशन बैठा था तब इन्होने २१,००० मनुष्यो के हस्ताक्षर हिंदी के पक्ष मे करवाए थे।

समाचार-पत्रो के तो आप इतने प्रेमी थे कि छोटे से लगाकर बड़े तक जितने हिंदी के समाचार-पत्र जीवनकाल मे निकले या निकल रहे थे सबकी पूरी फाइले अपने पास रखते थे।

इनके लिखे ग्रंथो मे सरोजिनी नाटक, विधवाविपत्ति, विरजा, जावित्री, यमलोक की यात्रा, स्वर्गयात्रा, मृण्मयी, कल्पलता बालविधवा आदि है।

इनका देहात संवत् १९५७ मे हुआ। आप भारतेंदुमडली के उज्ज्वल रत्न थे और हिंदी की सेवा मे रत रहते थे। पहले इनके हृदय मे समाजसुधार के जो भाव उठे थे वे समय पाकर और स्थिति की प्रतिकूलता के कारण इन्हे दबाने या छोड देने पडे।

(२१) साहित्याचार्य्य पंडित अंबिकादत्त व्यास

पडित अंबिकादत्त के पूर्वज राजपूताने के रहनेवाले थे। परंतु इनके पितामह पडित राजाराम जी काशी मे आ बसे थे। राजाराम जी के दो पुत्र हुए। दुर्गादत्त जी और देवदत्त जी। दुर्गादत्त जी प्रसिद्ध कवि हो गए है। हमारे व्यास जी इन्ही दुर्गादत्त जी के ज्येष्ठ पुत्र थे।

व्यास जी का जन्म सवत् १९१५ चैत्रशुक्ला अष्टमी को हुआ था। पाँच वर्ष की अवस्था होने पर इन्हे विद्याध्ययन आरंभ कराया गया और खेल-कूद मे शब्दरूपावली और अमरकोष का अभ्यास कराया जाने लगा। घर की स्त्रियाँ सब पढी-लिखी थी इसलिये इनकी शिक्षा उत्तम रीति से होने लगी। आठ-नौ वर्ष की अवस्था होने पर इन्हे शतरंज और सितार का चस्का लगा और उसी समय कविता का भी व्यसन आरंभ हुआ।

दस वर्ष की अवस्था होने पर व्यास जी का यज्ञोपवीत हुआ और उसी समय से आप गोस्वामी श्रीकृष्ण चैतन्यदेव जी के यहाँ भाषा-काव्य पढने लगे। उस समय गोस्वामी जी एक प्रसिद्ध कवि थे और उनके यहाँ अच्छे अच्छे कवि एकत्र हुआ करते थे। ऐसा सत्संग पाकर कुशाग्रबुद्धि व्यास जी बहुत ही शीघ्र काव्य-कुशल हो गए। इन्हे एक वर्ष मे ही कविता के समस्त प्रस्तारो का अच्छा ज्ञान हो गया और ये भरी सभा मे समस्या-पूर्त्ति करने लगे।

धीरे-धीरे व्यास जी का बाबू हरिश्चंद्र जी से परिचय हो गया और ये उनके यहाँ आने-जाने लगे और इनकी कविता भी कवि-वचन-सुधा मे प्रकाशित होने लगी। इसी बाल्यावस्था में इन्होंने महाराज काशिराज के यहाँ की धर्मसभा से भी पारितोषिक पाया। जिस समय व्यास जी की अवस्था केवल १२ वर्ष की थी उस समय काशी जी में एक तैलग देश के अष्टावधानी कवि आए, उन्होने अपना बुद्धि-कौशल दिखलाकर यहाँ के सब पडितो को चकित कर दिया, परतु हमारे व्यास जी ने भी तत्काल शतावधान रचकर उक्त पडित को भी चकित किया। उन्होने अत्यत प्रसन्न होकर इन्हे 'सुकवि' की पदवी प्रदान की, जिसे यहाँ की सब विद्वन्मडली ने भी स्वीकार कर लिया।

१३ वाँ वर्ष आरभ होते ही इन्होने सस्कृत का अध्ययन आरंभ किया। एक तरफ तो ये व्याकरण, साख्य, साहित्य, वेदात आदि गहन विषयो का अध्ययन करते और दूसरी ओर गान-वाद्य-सबधी कलाओं का अभ्यास करते जाते थे। सवत् १९३३ मे इन्होने काशी-गवर्मेंट संस्कृत-कालेज मे नाम लिखवाया और एक ही वर्ष के परिश्रम मे वहाँ मे उत्तमा परीक्षा पास की। सवत् १९३७ मे इन्होंने आचार्य परीक्षा पास की

और दूसरे वर्ष साहित्य-परीक्षा पास करके सरकार से साहित्याचार्य्य की पदवी प्राप्त की।

दुर्दैववश उसी साल इनके पिता ने परलोकवास किया इससे घर में कलह होने लगी जिससे दुखित होकर इन्होने कलकत्ते की यात्रा की और वहाँ अपने विद्या-बल से खूब नाम पैदा किया। परतु तीन ही महीने के अनतर वहाँ से चले आए और पीयूषप्रवाह प्रकाशित करने लगे जो कि इनके यावज्जीवन चलता रहा। अभ्यास करते करते इनकी धारणा यहाँ तक बढ़ गई थी कि ये २४ मिनट मे सौ श्लोक रच सकते थे। इसी से काशी की ब्रह्मामृतवर्षिणी सभा ने इन्हे एक चाँदी के पदक सहित "घटिकाशतक" की उपाधि प्रदान की थी।

यह सब कुछ था परतु इनकी आर्थिक अवस्था अच्छी नही थी। इसलिये सवत् १९४० मे इन्होने मधुवनी जाकर वहाँ के स्कूल मे ३५) रु० मासिक की नौकरी कर ली। यहाँ भी इन्होने अनेक व्याख्यान दिए और सभाएँ स्थापित की। यहाँ सबसे बड़ा काम जो व्यास जी ने किया वह "सस्कृत-सजीवनी-समाज" का स्थापित करना है। इस समाज के द्वारा बिहार की अनिश्चित शिक्षा-प्रणाली का ऐसा सुधार हुआ कि उससे अब सैकडो छात्र प्रतिवर्ष सस्कृत-शिक्षा पाते और उपाधि लाभ करते है।

सवत् १९४२ मे मधुवनी से इस्तीफा देकर ये बाँकीपुर मे चले आए। इसके दूसरे वर्ष मुजफ्फरपुर के स्कूल के हेड पडित बनाकर वहाँ भेजे गए। सवत् १९४४ मे इनकी बदली भागलपुर के जिला-स्कूल को हुई। इसी समय इन्होने सस्कृत मे 'सामवत नाटक' बनाकर राजा साहब दरभगा को समर्पण किया और 'शिवराज-विजय' नामक एक उपन्यास भी सस्कृत मे लिखा। सवत् १९४८ मे इनकी

बिहारीविहार की हस्तलिखित पुस्तक चोरी चली गई। उसे उन्होंने पुनः पूर्ण किया। कांकरोली-नरेश ने आपको 'भारत-रत्न' की पदवी प्रदान की थी और अयोध्या-नरेश ने एक स्वर्ण-पदक-सहित 'शतावधान' की पदवी दी थी।

छोटे-बड़े सभी इनका सम्मान करते थे। संवत् १९३५-३६ में इन्हें गवर्मेंट-पटना-कालेज में प्रोफेसर का पद मिला परन्तु ये शरीर से अस्वस्थ रहते थे, मानों दैव ने उस पद का भोग इनके भाग्य में लिखा ही न था। व्यास जी बँगला, महाराष्ट्री, गुजराती, अँगरेजी आदि भाषाएँ भी जानते थे। इन्होंने हिंदी, सस्कृत मे कुल ७८ ग्रंथ लिखे जिनमें से बहुत-से अधूरे ही रह गए और अनेक अब लों अप्रकाशित हैं।

उन्नीसवी नवबर सन् १९०० को व्यास जी का परलोकवास काशी में हुआ।

इनकी भाषा शिथिल होती थी। इनने उनने का प्रयोग ये बहुलता से करते थे पर आशुकवि और अच्छे वक्ता थे। इन्होंने सनातन-धर्म के पक्षसमर्थन और आर्यसमाज के खडन मे घूम-घूमकर व्याख्यान दिए थे। विभक्ति विषय पर इनके लेख सामयिक पत्रों मे निकले थे। ललिता नाटिका, गो-सकट नाटक, गद्य-काव्य-मीमासा, मरहठा नाटक तथा बिहारीविहार इनके प्रसिद्ध ग्रंथ है। बिहारीविहार में इन्होंने बिहारी के टीकाकारो का वृत्तात बड़ी खोज के साथ लिखा है।

(२२) पंडित नाथूराम शंकर शर्म्मा

पंडित नाथूराम शकर शर्म्मा का जन्म सवत् १९१६ चैत्रशुक्ला ५ शुक्रवार को हुआ था। इनके पिता का नाम पडित रूपराम शर्म्मा था। ये भारद्वाज गोत्रीय गौड़ ब्राह्मण थे और इनका निवासस्थान

पडित नाथूराम शकर शर्म्मा ।

हरदुआगंज, जिला अलीगढ था। ये अभी एक वर्ष के थे जब इनकी माता का देहात हो गया, अतएव इनका पालन-पोषण नानी और बुआ ने किया। पडित नाथूराम जी साधारण अँगरेजी और उर्दू जानते थे तथा हिंदी के अच्छे कवियो मे इनकी गणना थी। इनकी कविताएँ प्रायः सरस्वती मासिक पत्रिका मे प्रकाशित होती, जिन्हे खडी बोली के प्रेमी बडे आदर की दृष्टि से पढते। सरस्वती मे अब तक जितने कवियो की कविताएँ निकली है उनमे से पाँच प्रसिद्ध कवियो की कविताओ का सग्रह "कविताकलाप" नाम से प्रकाशित किया गया है। इस कवि-पचक में शर्म्मा जी भी सम्मिलित है। सवत् १९३७ मे पडित नाथूराम जी कानपुर में नहर-विभाग मे ड्राफ्ट्स्मैन के पद पर नियुक्त हुए थे। यहाँ इन्होने कोई पाँच-छ. वर्ष तक काम किया। अत मे इस्तीफा देकर वहाँ से ये अलग हो गए और तब से अंत तक वैद्यक-द्वारा अपनी जीविका-निर्वाह करते रहे। शर्म्मा जी खडी बोली मे अच्छी कविता करते थे और वे हिंदी के पत्रो तथा पत्रिकाओ में प्रकाशित होती थी। अनेक बेर इन्हें अनेक स्थानो से समस्यापूर्ति के लिये चाँदी और सोने के पदक तथा पगडियाँ, घडियाँ, पुस्तके और प्रशसापत्र मिले थे। ज्वालापुर के महाविद्यालय से भी इन्हें एक स्वर्ण-पदक मिला था। इन्होने उर्दू में भी कविता की है। शर्म्मा जी वक्तृता देने मे भी बडे निपुण थे। खडी बोली कविता के आरभिक दिनो में इन्होने उसका पक्ष बडी लगन के साथ समर्थन किया था और नये नये छदो मे कविता करके यह सिद्ध कर दिया कि खडी बोली में अच्छी और सरस कविता हो सकती है। मिलिद पाद, शकर छद, राजगीत इन्ही के निकाले हुए है। घनाक्षरी छंद मे खडी बोली की कविता का आपने ही सूत्रपात किया था। सवत् १९८९ में आपका

परलोकवास हुआ। शर्म्मा जी का आधुनिक युग के कवियों मे प्रमुख स्थान था।

शर्म्मा जी आर्य्यसमाज के सिद्धातो के दृढ अनुयायी थे। स्वभाव इनका बहुत सरल था। अतएव इनकी अधिकतर कविताएँ समाज संबधी हैं। इन्होने आर्य्यसमाज के जलसो मे गाने के लिए प्रभावशाली भजन बनाए थे। यद्यपि ये आर्य्यसमाजी थे, पर खान-पान-संबधी उच्छृंखलता और अनधिकारचेष्टा को बुरा समझते थे।

(२३) पंडित दुर्गाप्रसाद मिश्र

काश्मीर की राजधानी जबू से बीस कोस पर जामवत की बेटी जामवती के गर्भ से उत्पन्न श्रीकृष्ण जी के पुत्र शाब का बसाया हुआ साँवाँ नगर है। यही साँवाँ नगर पडित दुर्गाप्रसाद की जन्मभूमि है। आप सूर्य्यवश के आदि-पुरोहित वशिष्ठ ऋषि-कुलोत्पन्न सारस्वत ब्राह्मण थे। इनकी वश-परम्परा उपाधि "राजोपाध्याय" है परतु पजाब मे ब्राह्मण-मात्र को "मिश्र" कहते है इसी से इनके नाम के आगे यह उपाधि लगी हुई है। इनके पिता का नाम पंडित घमीटाराम मिश्र था।

पडित दुर्गाप्रसाद मिश्र का जन्म आश्विन सवत् १९१६ की शारदीय नव-दुर्गाओ में नवमी बुधवार को हुआ था। इसी से आपका नाम दुर्गाप्रसाद रखा गया। आपके पितामह सस्कृत के अच्छे विद्वान् और कर्मकाड मे परम प्रवीण पडित थे। वे सपरिवार जगदीश के दर्शन करने गए। वहाँ से लौटकर आते समय कलकत्ता-निवासी पजाबी खत्रियो ने इनसे कलकत्ते मे ही प्रवास करने का अनुरोध किया इसलिये ये वही रहने लगे। इनके तीन पुत्र थे और

वे तीनो सौदागरो की बडी-बडी कोठियो में दलाली का काम करने लगे।

पडित दुर्गाप्रसाद मिश्र ने बाल्यावस्था मे डोगरी, हिंदी और बँगला भाषाओ का घर पर ही अभ्यास किया और फिर काशी में आकर सस्कृत पढी। इसके पीछे कलकत्ते चले गए और नार्मल स्कूल मे अँगरेजी का अभ्यास करने लगे। अँगरेजी मे कुछ पढ़ने-लिखने का ज्ञान प्राप्त करके इन्होने स्कूल छोड दिया और अपने बडो के प्रेरणानुसार दलाली का काम करने लगे। इस काम को इन्होने कुशलता से किया और अपनी आय भी अच्छी बढाई, पर चित्त की प्रवृत्ति इस ओर न होने से इन्होने इस काम को शीघ्र ही छोड दिया। छात्रावस्था मे पडित दुर्गाप्रसाद जी बँगला के समाचार-पत्र बडे प्रेम से पढा करते थे और उस समय उनके चित्त मे यह विचार उठा करता था कि यदि ऐसे ही पत्र हिंदी मे निकला करें तो अच्छा हो। सौभाग्य-वश उसी समय काशी से कविवचनसुधा नाम का पत्र प्रकाशित होने लगा था और ये उसके सवाददाता बने। इसके अनतर पटने से बिहारबधु का जन्म हुआ। इसके भी ये सहायक रहे। अब दलाली का काम छोडकर ता० १७ मई सन् १८७८ को आपने हिंदी के प्रसिद्ध साप्ताहिक पत्र "भारतमित्र" को प्रकाशित करना आरभ किया, परतु ग्राहको के समय पर चदा न देने से आर्थिक त्रुटि के कारण इस पत्र का भार "भारतमित्र सभा" को दे दिया।

इसके कुछ दिनो पीछे स्वर्गीय पडित सदानद मिश्र के अनुरोध से इन्होने "सारसुधानिधि" नाम का एक पत्र निकाला। एक वर्ष चलकर जब यह भी बन्द हो गया तब सन् १८८० मे केवल अपने बाहु-बल के आश्रय पर "उचितवक्ता" पत्र प्रकाशित करना आरभ किया।

उचितवक्ता ने हिंदी सृष्टि मे एक नया कर्तब कर दिखलाया। इस पत्र मे गूढ राजनीतिक विषयो पर पडित जी के हँसी-दिल्लगी-भरे लेख सर्वप्रिय और प्रभावजनक होते थे।

जबू-नरेश महाराज रणवीरसिह पडित जी पर विशेष प्रेम रखते थे। उन्होने जबू से "जंबूप्रकाश" पत्र चलाने की इच्छा से पडित जी को बुलाया था परतु उनकी अस्वस्थता के कारण यह न हो सका। तब ये फिर कलकत्ते चले आए और उचितवक्ता को चलाते रहे। महाराज रणवीरसिह का स्वर्गवास हो जाने के कारण वर्तमान जबू-नरेश ने इन्हे बुलाया और शिक्षा-विभाग के सर्व्वोच्च पद पर नियत किया परतु थोड़े ही दिनो के अनतर राज्यप्रबंध मे कुछ गडबड़ देखकर इन्होने वहाँ रहना उचित न समझा और इस्तीफा देकर ये वहाँ से चले आए। इन्होने स्वर्गीय बाबू भूदेव मुखोपाध्याय के अनुरोध से बिहार-प्रात के लिए हिंदी मे कुछ पाठ्य-पुस्तके भी लिखी थी जो बहुत दिनो तक बिहार के स्कूलों मे प्रचलित रही।

जबू-राज्य से पीडित एक स्वदेशी पुरुष के कहने से इन्होने उचित-वक्ता मे जबू-राज्य के रहस्यो को प्रकाशित करना आरभ किया परतु इससे जब जबू की शासन-प्रणाली पर कुछ भी प्रभाव न पड़ा तब इन्होने देशवासियो के एक दल के सहित उस समय हिंदुस्तान मे आए हुए पार्ल्यमिंट के मेबर मिस्टर ब्रैडला से मुलाकात की और अपने देशवासियो का दुख सुनाया। उन्होने विलायत जाकर इनकी बड़ी प्रशसा की और पार्ल्यमिंट मे जबू-राज्य की बाते पेश करके उनका सुधार करवाया। अत मे इन्होने "मारवाड़ी-बधु" नाम का साप्ताहिक पत्र निकाला था पर वह भी कुछ दिन चलकर बद हो गया।

पंडित गोविंदनारायण मिश्र।

अमृत-बाजार पत्रिका के प्रवर्तक संपादक राजनीतिकुशल बाबू शिशिरकुमार घोष को पंडित दुर्गाप्रसाद अपना राजनीतिक गुरु मानते थे। पंडित जी ने हिंदी मे छोटी बडी कुल २०-२२ पुस्तकें लिखी है। आप बड़े साधारण स्वभाव के मिलनसार और हँसमुख मनुष्य थे और बगाल मे हिंदी-पत्रो के जन्मदाता और प्रचारको में थे। पंडित जी में एक विचित्र शक्ति यह थी कि जिससे मिलते उसे मोहकर अपने वश में कर लेते थे। आपका देहात सन् १९१० के अंत मे कलकत्ते में हुआ।

इन्होंने सरस्वती नाम का एक नाटक बँगला के स्वर्णलता के आधार पर लिखा था, जिसमें एक प्रकार से इन्होंने अपने गार्हस्थ्य-चरित्र का चित्रण किया है। मिश्र जी हिंदी के उत्तम लेखको मे थे। इनकी भाषा बड़ी पुष्ट और जोरदार होती थी। वक्तृता देने मे भी आप निपुण थे। इनका स्वभाव बड़ा हँसमुख था। बडे कौशल से ये हँसी के नाम रख लेते थे, जैसे पंडित अंबिकादत्त व्यास का नाम द्रमिका दस्त वास हत्याचार्य और बाबू देवकीनंदन खत्री का नाम देवर की ननद रखा था। अँगरेजी शब्दो के रूप पर हिंदी मे शब्द रचना करने में ये बड़े निपुण थे। प्रासपेक्टस शब्द का रूप इन्होंने प्रतिष्ठापत्र रखा था और पैंडाल का पिंडालय। अस्तु, ये हिंदी के रत्नो मे थे और अपने उद्योग से इन्होंने हिंदी का सिर ऊँचा किया था।

(२४) पंडित गोविंदनारायण मिश्र

संवत् १८१३ मे लाहौर के पंडित गणपति मिश्र घर से जगदीश-यात्रा के लिये निकले थे। उस समय कलकत्ता था ही नहीं। लोग बर्दवान होकर जगदीशपुरी जाते थे। बर्दवान पहुँचने पर वहाँ के राजा तेजचंद्र ने पंडित जी की ज्योतिष-विद्या से प्रसन्न होकर उन्हे स्थायी

वृत्तियाँ दी और वही रहने के लिये बहुत आग्रह किया, परन्तु आपने इसे अस्वीकार किया। संवत् १८५७ में उनके पुत्र पडित लक्ष्मी-नारायण बर्दवान गए। आप वहाँ दस बरस रहकर काशी चले आए। यहाँ उन्होने अपना दूसरा विवाह किया। चार बरस पीछे १८७१ मे आप फिर बर्दवान चले गए।

इनके तीन पुत्र हुए। उनमें से सबसे छोटे पडित गगानारायण जी हमारे चरितनायक पडित गोविंदनारायण जी के पिता थे। पडित गगानारायण जी प्रसिद्ध बगाली कृष्णदास पाल के सहपाठी थे। शिक्षा समाप्त होने पर वे अँगरेजी आफिसो की दलाली करने लगे। रानीगज प्रात की कोयले की खानो का पता पहले-पहल उनके बडे भाई पडित जयनारायण जी ने ही लगाया था। पडित गगानारायण का विवाह कलकत्ते मे ही हुआ था।

सवत् १९१६ की कार्त्तिकशुक्ला ३ को पडित गगानारायण के घर पडित गोविदनारायण जी का जन्म हुआ। साढे चार वर्ष की अवस्था मे ही आपको अक्षरारभ कराया गया। बाल्यावस्था मे इनकी स्मरण-शक्ति बहुत तीव्र थी। पडित गगानारायण जी की रुचि सस्कृत की ओर अधिक थी, इसी लिये उन्होने अपने पुत्र की सस्कृत-शिक्षा के लिये काशी से महाराष्ट्र पंडित बुलवाये थे। उन्ही पडितो से आपने अमरकोष, मुहूर्त्तचिन्तामणि, वेद और अष्टाध्यायी के कुछ सूत्र पढे। आप न तो कभी घर से अकेले बाहर जाते थे और न लडको के साथ व्यर्थ खेलना पसद करते थे। पाँच ही वर्ष की अवस्था मे आपका विवाह हो गया और उसी वर्ष आप सस्कृत-कालेज मे भर्ती किए गए। उन दिनो किरातार्जुनीय, रघुवश और शकुतला की पढाई तीसरे दर्जे मे ही हो जाती थी। अपने अध्यापक पडित राममय तर्कालंकार की शिक्षा

के कारण आप उसी समय संस्कृत मे अच्छी कविता करने लग गए थे। उन्होने एक वेर कहा भी था कि ईश्वर न करे तुम किसी रोग से पीडित हो जाओ। दूसरे दर्जे में पहुँचते ही आप नेत्ररोग से पीडित हो गए, और डाक्टरो की सम्मति से पढना छोड़ बैठे। कोई दो सप्ताह वहुत कष्ट पाने के अनतर आपकी एक आँख तो अच्छी होगई, लेकिन दूसरी का विकार बना रहा।

पडित गोविंदनारायण जी ने हिंदी और सस्कृत-साहित्य के साथ ही साथ प्राकृत व्याकरण का भी अच्छा अध्ययन किया था। सन् १८७३ मे आपके फुफेरे भाई पडित सदानद मिश्र ने सारसुधानिधि नामक एक साप्ताहिक पत्र निकाला, आप उसके साझीदार और सहकारी सपादक हुए। एक वर्ष पीछे आपने उसका साझा छोड दिया, केवल लेखादि से उसकी सहायता करते रहे। कभी-कभी आपको उसका पूरा सपादन भी करना पडता था। इसके अतिरिक्त उचितवक्ता और धर्मदिवाकर मे भी आप लेखादि लिखा करते थे। आप अपने लेख प्रायः विना नाम के छपवाते थे, इसी लिये आपकी विशेष प्रसिद्धि न हुई।

उन्ही दिनो भारतेंदु वावू हरिश्चंद्र तथा पडित वालकृष्ण भट्ट जी से इनका परिचय हुआ। कोई चालीस वर्ष पूर्व आपने शिक्षा-सोपान नामक एक वहुत उपयोगी पुस्तक की रचना की थी। उसके दो भाग प्रकाशित और शेष पाँच अलिखित और अप्रकाशित रह। सवत् १९६१ मे आपने "सारस्वतसर्वस्व" नामक एक गवेषणापूर्ण पुस्तक लिखी थी, जिसके कारण सारस्वत-समाज मे वडी खलवली मची और आपको वहुत कुछ आपत्ति सहनी पड़ी। आपने कलकत्ते मे धर्मसभा स्थापित कराई थी, जिसके द्वारा पिंजरापोल और एक सस्कृत-पाठशाला की स्थापना हुई। आप वहुत अच्छे वक्ता भी थे। एलवर्ट बिल के समय

आपके व्याख्यान पर हजारों आदमी मुग्ध हो गए थे। एक बेर एक सभा मे सभापति ताहिरपुर के राजा शशिशेखरेश्वर राय ने बिना पहले से कहे-सुने एक प्रस्ताव के अनुमोदन के लिये आपका नाम लिया। आपने भी उसी समय खडे होकर अपनी वक्तृत्व-शक्ति का बहुत अच्छा परिचय दिया। उस समय बडे-बड़े विद्वान् बगालियो ने आपकी बहुत प्रशसा की थी।

भारतधर्ममहामडल के स्वामी ज्ञानानद आपको उपाधि देना चाहते थे, पर आपने उसे स्वीकार नही किया।

सस्कृत, प्राकृत, हिंदी, अँगरेजी और बँगला के अतिरिक्त आप पंजाबी और गुजराती भी जानते थे, तथा मराठी पुस्तको का भाव भी समझ लेते थे। जिन लोगो ने आपके "विभक्तिविचार" और "प्राकृतविचार" शीर्षक लेख पढे है, वे आपकी योग्यता से भली भाँति परिचित है। नेत्ररोग से पीड़ित होने पर भी आप सदा पुस्तके पढते रहते।

प्रयाग के द्वितीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन का सभापति बनाकर लोगो ने आपका अच्छा सम्मान किया था।

शिक्षा-सोपान के अतिरिक्त इनके लिखे ग्रथ ये है—कवि और चित्रकार (अपूर्ण), प्राकृतविचार, सारस्वत-सर्वस्व, विभक्ति-विचार, आत्माराम की टेटे (अपूर्ण)।

कवि और चित्रकार तथा साहित्य-सम्मेलन के अभिभाषण में आपने कादबरी की शैली का अनुकरण करने का सफल उद्योग किया है। आपके विभक्ति-विचार ने एक प्रबल आदोलन खडा कर दिया। कुछ लोग विभक्तियो को मिलाकर लिखने के पक्षपाती हुए और कुछ उनको अलग लिखने के। बंबई और कलकत्ते मे प्रथम पक्ष के लोग

बाबू रामकृष्ण वर्म्मा।

अधिक है। सयुक्तप्रात, मध्यप्रदेश, पजाब, राजपूताना आदि में उसके अलग लिखने की प्रथा ही प्रचलित है। पडित महावीर-प्रसाद द्विवेदी ने भाषा की "अनस्थिरता" का प्रयोग किया था। इस पर लाला बालमुकुद गुप्त ने बडा आदोलन मचाया और द्विवेदी जी की कडी समालोचना की। पडित गोविंदनारायण मिश्र ने 'आत्माराम की टेंटें' लेखावली मे द्विवेदी जी का समर्थन और गुप्त जी के तर्क का खडन किया था। इस पक्ष-समर्थन के लिए द्विवेदी जी मिश्र जी के बहुत अनुगृहीत हुए और कई पत्रो में उन्होंने इसका उल्लेख किया। जब व्याकरण के सशोधन का आयोजन काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने किया तब पडित महावीरप्रसाद द्विवेदी उसमे पधारे थे। उस समय पडित गोविंदनारायण मिश्र भी काशी मे थे। निमत्रण देने और अनेक आग्रह करने पर भी वे सभा मे न पधारे। इस पर द्विवेदी जी ने व्यगरूप में कहा कि हम तो आज उनके प्राकृत के ज्ञान की बानगी देखना चाहते थे।

मिश्र जी का देहात सवत १९८० की अनत चतुर्दशी (२३ सितबर, १९२३) को हुआ।

(२५) बाबू रामकृष्ण वर्मा

सन् १८४० के लगभग हीरालाल खत्री पजाब से पैदल चलकर काशी को आए। यहाँ चमरिया गली मे ठहर कर इन्होने परचून की दूकान खोली और लगभग पचास वर्ष की अवस्था मे आजमगढ में अपना विवाह किया। इनके राधाकृष्ण, जयकृष्ण और रामकृष्ण तीन पुत्र हुए।

बाबू रामकृष्ण वर्मा का जन्म सन् १८५९ संवत् १९१६ आश्विन कृष्ण ७ को हुआ था। जिस समय इनके पिता का ७० वर्ष की अवस्था

मे देहात हुआ। उस समय इनके बडे भाई राधाकृष्ण की १६ वर्ष की अवस्था थी और रामकृष्ण केवल एक वर्ष एक महीने के थे। इनकी माता ने अपने तीनो पुत्रो का बडे कष्ट से पालन-पोषण किया क्योकि उस समय इनकी आर्थिक अवस्था बहुत ही हीन थी।

कुछ वय प्राप्त होने पर इनकी माता ने इन्हे पढने को बैठाया। जब इन्होने गुरु के यहाँ हिंदी पढना-लिखना सीख लिया तब ये जयनारायण-कालेज में अँगरेजी पढने के लिए बैठाए गए। यहाँ भी इन्होने खूब मन लगाकर पढ़ा। वाइबिल की परीक्षा मे तो ये सदा प्रथम रहते थे। दूसरी भाषा इनकी सस्कृत थी। इन्होने संस्कृत मे भी अच्छी योग्यता प्राप्त की। उक्त स्कूल से एट्रेंस पास कर लेने पर इन्होने क्वीस कालेज मे नाम लिखाया और वहाँ बी० ए० की परीक्षा तक पढा, पर उसमे उत्तीर्ण न हो सके। कालेज मे पढते समय ये घर पर पडित हरिभट्ट मानेकर जी से सस्कृत भी पढते थे। इनकी बाइबिल पर अधिक रुचि देखकर उन्होने इनको ईसाई-धर्म से हटाकर सनातन-धर्म का मार्ग बतलाया। ये प्रायः कहा करते थे कि मुझे ईसाई होने से बचाने मे पडित जी ने मेरे ऊपर बडी कृपा की थी।

छात्रावस्था मे बाबू रामकृष्ण ट्यूशनो से अपनी जीविका-निर्वाह करते थे। पढ़ना छोडने के अनतर इन्होने हरिश्चद्र स्कूल में नौकरी कर ली पर कुछ दिन पीछे वह भी छोड़ दी और किताबो की एक छोटी-सी दूकान कर ली। बाबू हरिश्चद्र जी की तथा गोपालमंदिर के अध्यक्ष लालजी महाराज की इन पर विशेष कृपा थी क्योकि ये बडे कुशाग्र-बुद्धि और हिंदी भाषा के स्वभाव से ही एक अच्छे कवि थे। इनकी किताबो की दूकान अच्छी चली। सन् १८८४ में कलकत्ते

जाकर इन्होने एक प्रेस खरीदा। इस प्रेस मे पहले इन्होने ईसाई-मत-खडन नाम की एक पुस्तक छापी। उसकी खूब विक्री हुई और जल्दी ही इनका छापाखाना चल निकला। इसी वर्ष मार्च मास से इन्होने "भारतजीवन" नाम का पत्र प्रकाशित करना आरभ किया जो उनकी मृत्यु के उपरात बद हो गया। इनके इस प्रेस का और पत्र का नाम बाबू हरिश्चद्र जी ने स्वय रक्खा था। इस प्रेस से हिंदी की अच्छी अच्छी पुस्तके प्रकाशित हुई है।

बाबू रामकृष्ण वर्मा को शतरज खेलने का बडा शौक था और उसमे ये बडे प्रवीण भी थे। इन्होने पडित अबिकादत्त व्यास की सहायता से कचौरी गली मे एक 'चेस क्लब' स्थापित किया था। सन १८८१ ई० मे इन्होने ताश कौतुकपचीसी नाम की एक पुस्तक लिखी थी और उसे हरिप्रकाश प्रेस में छपवाया था। इसकी बडी बिक्री हुई और लोगो ने इसे बहुत पसद किया।

वैसे तो बाबू रामकृष्ण जी ने हिंदी-गद्य मे अथवा पद्य मे बहुत-सी पुस्तको की रचना की है परतु इनका बहुत बडा और अतिम परिश्रम कथासरित्सागर का भाषानुवाद है। इसे इन्होने केवल दस भागो तक अनुवाद किया था। फिर अधिक अस्वस्थता के कारण आगे ये इस काम को उत्साह-पूर्वक न कर सके।

इनके अनुवादित ग्रथ ये हैं—कृष्णकुमारी नाटक, पद्मावती नाटक, वीर नारी, अकबर उपन्यास, अमलावृत्तातमाला, कथासरित्सागर, कास्टेबुलवृत्तातमाला, ठगवृत्तातमाला, पुलिसवृत्तातमाला, भूतो का मकान, स्वर्णबाई उपन्यास, ससारदर्पण, बलवीरपचासा, विरहा, ईसाईमतखडन, चित्तौरचातकी।

दो-तीन वर्ष से इनकी तबीअत बहुत खराब रहती थी। सन् १९०५ में ये बहुत बीमार हो गए थे पर अच्छे हो गए। फिर १९०६ में इन्हें जलोदर-रोग हुआ और उसी से ता० २५ दिसबर, सन् १९०६ के सध्या को इनका स्वर्गवास हो गया। इनकी सतति एक विधवा कन्या है।

बाबू रामकृष्ण ने अपने परिश्रम और अध्यवसाय से अच्छी उन्नति की और नाम पैदा किया। अपने बाहुबल से मनुष्य क्या कर सकता है इसके ये आदर्श थे। ये शुद्ध परिपुष्ट और परिमार्जित हिंदी लिखने के पक्षपाती थे। अपने भारतजीवन प्रेस द्वारा उन्होंने बहुत-से प्राचीन ग्रथो का उद्धार किया।

(२६) पंडित श्रीधर पाठक

पडित श्रीधर पाठक सारस्वत ब्राह्मण थे। इनके पूर्व-पुरुष कोई ११०० वर्ष हुए कि पंजाब से आकर जोधरी ग्राम मे, जो आगरे जिले के फीरोजाबाद परगने मे है, बसे थे और कौटुम्बिक जनश्रुति के अनुसार एक विशाल जमीदारी उनके वहाँ बसने का हेतु था। पाठक जी के वृद्ध प्रपितामह श्री कुशलेश जी हिंदी के अच्छे कवि थे और पितामह पडित धरणीधर शास्त्री धुरधर नैयायिक थे। पिता पडित लीलाधर जी यद्यपि एक साधारण पडित थे परतु सच्चरित्रता, भगवद्भक्ति और पवित्रता मे अद्वितीय थे। इनके निधन पर पाठक जी ने आराध्य-शोकाजलि नामक सस्कृत-निबध पितृभक्ति और कारुणिकता-उद्रेक में लिखा था।

पाठक जी का जन्म माघकृष्ण चतुर्दशी, सवत् १९१६ (ता० ११ जनवरी, सन् १८६० ई०) को उक्त ग्राम मे हुआ। प्रारंभ मे इन्हें

पंडित श्रीधर पाठक।

सस्कृत पढाई गई और दस-ग्यारह वर्ष की अवस्था मे अपनी तीव्र बुद्धि से उस भाषा मे इन्होने इतनी योग्यता प्राप्त कर ली कि सस्कृत बोलने और लिखने लगे। परतु कई कारणो से उस भाषा मे विशेष उन्नति नही कर सके। १२ वर्ष की अवस्था में तो पढना ही छूट गया, केवल खेल-कूद रह गया।

इस अवस्था में इन्हें आप ही आप चित्र खीचने और मिट्टी की सुन्दर मूर्तियाँ बनाने तथा प्राकृतिक शोभा की विविध वस्तुओ के सग्रह करने में अभिरुचि उत्पन्न हुई और इसी व्यवसाय मे ये तत्पर रहे। १४ वर्ष की अवस्था मे फिर पढना आरंभ किया। पहले तो कुछ फारसी पढी और सन् १८७५ ई० मे तहसीली स्कूल से हिंदी की प्रवेशिका परीक्षा पास की। इस परीक्षा मे प्रात भर में इनका नवर पहला रहा। सन् १८७९ ई० मे आगरा कालेज से अँगरेजी मिडिल की परीक्षा पास की और इसमे भी सब उत्तीर्ण परीक्षितो में प्रथम पद प्राप्त किया। इसके एक ही वर्ष पीछे सन् १८८० ई० में इन्होने एट्रेस परीक्षा पहली श्रेणी मे पास की।

उक्त परीक्षा पास करने के छ: महीने के अनतर सन् १८८१ में आप कलकत्ते चले गए और वहाँ ६०) रु० मासिक पर सेसस कमिश्नर के स्थायी दफ्तर में नौकर हुए। इसी नौकरी मे इन्हे शिमला जाकर हिमालय का उदग्र वैभव देखने का अवसर प्राप्त हुआ। वहाँ से लौटने पर कुछ दिन के अनतर इलाहाबाद में लाट साहब के दफ्तर में ३०) मासिक पर नियुक्त हुए। इस दफ्तर के साथ पाठक जी को कई बेर नैनीताल जाने का सौभाग्य हुआ। सन् १८९८ ई० में जब कि इनका वेतन २००) मासिक था इनकी आगरे को बदली हुई और वहाँ से सन् १९०१ ई० में ३००) मासिक वेतन पर इरीगेशन

कमिशन के सुपरिटेंडेंट नियुक्त हुए। कमिशन के अंत (सन् १९०३) तक ये उसी के साथ रहे। तदनंतर एक वर्ष पर्यंत भारत गवर्मेंट के दफ्तर मे डिप्टी सुपरिटेंडेंट और सुपरिटेंडेंट रहे। फिर उस पद को त्याग तीन मास की छुट्टी लेकर काश्मीर की सैर को पधारे। वहाँ से लौट आने पर "कश्मीरसुखमा" नामक सुललित काव्य रचा। पाठक जी सरकारी काम बडे परिश्रम और सावधानी से करते थे और उत्तम अँगरेजी लिखने के लिए प्रख्यात है। सन् १९९८-९९ की प्रातीय इरीगेशन रिपोर्ट मे आपकी प्रशसा छपी है। काश्मीर से लौटने पर ये युक्त-प्रदेश के लाट साहब के दफ्तर मे ३००) मासिक पर सुपरिटेंडेंट हुए और पेंशन लेने तक वही काम करते रहे।

पंडित श्रीधर पाठक हिंदी-भाषा के एक अच्छे कवि थे। आप ब्रजभाषा और खडी बोली दोनो मे एक समान कविता रचते थे। परतु खडी बोली मे आपकी कविता आदर्श रूप होती थी। आप उसके पक्के समर्थक और सरल, सरस, प्रसाद-गुण-विशिष्ट स्वभाव सुन्दर उक्ति के प्रदर्शक थे। इस विषय मे आप अद्वितीय थे।

इन्होने स्कूल मे पढते समय सबसे पहले अपनी जन्मभूमि जोधरी ग्राम की प्रशसा मे एक कविता रची थी परतु वह प्रकाशित नही की गई वरन रचना के पश्चात् शीघ्र ही नष्ट कर दी गई। उसके अनंतर जब जो मौज में आया लिखा। आपकी स्फुट कविताओ का सग्रह "मनो-विनोद" नाम से पुस्तकाकार तीन भागो मे प्रकाशित हो गया है और हिंदी के सब सहृदय प्रेमियो के बडे प्रेम और आदर की वस्तु है। कारण यह कि पाठक जी के पद्य-मात्र में एक ऐसी स्थायी मनोहरता है कि बार बार पढकर भी फिर पढ़ने को जी करता है। गोल्डस्मिथ के तीन ग्रथो का पद्यानुवाद आपने "एकातवासी

महामहोपाध्याय पडित सुधाकर द्विवेदी।

योगी", "ऊजड ग्राम" और "श्रातपथिक" नाम से प्रकाशित किया है। इन तीनो ग्रथो का बडा प्रचार और सम्मान है। इनमें से श्रातपथिक खडी बोली में अँगरेजी-पद्य की एक पक्ति का हिंदी की एक पक्ति में अनुवाद है। आप प्राकृतिक दृश्यो का अच्छा चित्र खीचते थे।

पेंशन लेने के अनंतर आप प्रयाग के लूकरगज महल्ले में पद्मकोट नाम का बँगला बनवाकर रहते थे। आपका देहात सन् १९२८ में हुआ। आप पिछले दिनो में दमे के रोग से पीडित रहते थे।

आपके बनाए ये ग्रथ हैं—आराध्यशोकाजलि, श्री गोखलेप्रशस्ति, एकातवासी योगी, ऊजड़ ग्राम, श्रातपथिक, जगत सचाई सार, काश्मीरसुखमा, मनोविनोद, श्री गोखलेगुणाष्टक, देहरादून, तिलिस्माती मुंदरी, गोपिकागीत, भारतगीत।

पाठक जी की व्रजभाषा और खडी बोली की कविता दोनो ही बडी मनोहारिणी होती थी। खड़ी बोली की कविता में कही-कहीं व्रजभाषा के रूप आ गए है पर वे उपेक्षा की दृष्टि से देखे जाते है। इसमें सदेह नही कि खडी बोली-कविता के आदि कवियो में आपका स्थान बहुत ऊँचा है। वे किसी छद को लिखकर उसका कई बेर परिमार्जन करके तब उसे प्रकाशित करते थे। आपका गद्य भी बडा पुष्ट और परिमार्जित होता था। लखनऊ के हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के आसन से जो अभिभाषण दिया था वह आदर्शरूप है।

(२७) महामहोपाध्याय पंडित सुधाकर द्विवेदी

बहुत दिन हुए चैनसुख नामक एक सरयूपारी दुबे ब्राह्मण काशी में सस्कृत पढने आए। वे शिवपुर के पास भँडलाई गाँव में एक उपाध्याय के यहाँ अध्ययन करने लगे। उपाध्याय जी की कोई सतति न होने के

कारण चैनसुख ही उनकी सपत्ति के उत्तराधिकारी हुए । इनसे कई पीढी पीछे शारँगधर और शिवराज दो भाई हुए। शारँगधर ने खजुरी सारनाथ आदि कई गाँवो की जमीदारी लेकर खजुरी में अपना निवास-स्थान नियत किया। शिवराज उपाध्याय के तीन पुत्र हुए, जिनमे रामप्रसाद सबसे छोटे थे। इनके समय में केवल खजुरी की जमीदारी हाथ में रह गई थी। रामप्रसाद के पाँच पुत्र हुए जिनमे कृपालुदत्त सबसे छोटे थे । कृपालुदत्त ज्योतिष-विद्या मे निपुण हुए और इनके हस्ताक्षर भी अच्छे होते थे । क्वीस कालेज की भीतो पर अंकित अक्षर इन्ही के लिखे हुए है । पडित सुधाकर जी इन्ही कृपालुदत्त के पुत्र है । पडित कृपालुदत्त स्वय भाषा-काव्य के बडे प्रेमी तथा कवि थे।

जिस समय सुधाकर जी का जन्म हुआ इनके पिता मिर्जापुर मे थे। इनके चचा दरवाजे पर बैठे थे। डाकिये ने आकर सुधाकर नामक पत्र उनके हाथ मे दिया, तब तक भीतर से लड़के के जन्म होने की खबर आई। आपने कहा कि इस लडके का नाम सुधाकर हुआ। इनका जन्म संवत् १९१७ चैत्रशुक्ला चतुर्थी सोमवार को हुआ था। द्विवेदी जी की ९ मास की अवस्था होते ही इनकी माता का देहात हो गया, इसलिये इनके लालन-पालन का भार इनकी दादी पर पड़ा। इनके पिता घर पर नही रहते थे, और घर भर का इन पर विशेष प्यार था। इसी से आठ वर्ष की अवस्था तक इनकी शिक्षा की ओर किसी ने कुछ भी ध्यान न दिया। इसके पीछे जब इनके बडे चचा ने इन्हे पढने को बैठाया तब इन्होने थोडे ही समय मे बहुत उन्नति कर दिखलाई। यज्ञोपवीत होते ही इनकी धारणाशक्ति ऐसी तीव्र हो गई कि जो पद्य एक बेर देखा कंठस्थ हो गया।

इनके वडो ने तो सोचा कि इन्हे कुछ व्याकरण पढाकर कथा-पुराण वाँचने योग्य वना दिया जाय, पर इनकी रुचि ज्योतिप-शास्त्र की ओर लग गई और केवल लीलावती पढकर ये गणित के वडे वडे प्रश्नो को सहज मे हल करने लगे। इनकी ऐसी तीव्र वुद्धि देखकर पडित वापूदेव शास्त्री इनसे वहुत प्रसन्न हुए और उन्होने क्वींस कालेज के प्रिन्सिपल ग्रिफिथ साहव से इनकी वडी प्रशसा की। इससे इनका उत्साह और भी वढ गया। इनके वडो ने गणित के विशेष अध्ययन से इन्हे रोकना चाहा पर ये गणित के रग मे ऐसे रँग गए थे कि उस विद्या में पूर्ण पाडित्य प्राप्त किया। योही ज्योतिष विपय पर वाते होते-होते एक दिन इनका वापूदेव शास्त्री से कुछ झगडा हो गया, जिससे दोनो मे कुछ वैमनस्य हो गया। पडित वापूदेव शास्त्री के पीछे आप वनारस के सस्कृत-कालेज में गणित और ज्योतिष के अध्यापक हुए और अतकाल तक उस पद पर सुशोभित रहे।

पडित सुधाकर जी ज्योतिप और गणित के जैसे पडित थे सो तो सव जानते है परतु अपनी मातृभाषा हिंदी के भी आप अनन्य प्रेमी और वडे विद्वान् थे। आप तुलसीदास, सूरदास, कवीर तथा अन्यान्य भाषा के शिरोमणि कवियो के काव्यो मे अच्छा प्रवेश रखते थे। आप ऐसी सरल हिंदी के पक्षपाती थे जो कि सहज ही सर्वसाधारण की समझ में आ सके। आप वावू हरिश्चद्र जी के प्रिय मित्रो मे से थे। आपने सव मिलाकर हिंदी भाषा में कोई १७ पुस्तके रची और सपादित की है जिनमे मुख्य ये है—चलनकलन, चलराशिकलन, तुलसीसुधाकर, पद्मावत, रामकहानी, समीकरणमीमासा, हिंदी का व्याकरण (पूर्वार्द्ध)।

सुधाकर जी की रहन-सहन सादी, स्वभाव सीधा और चाल सर्व-प्रिय थी। आपका सिद्धात था कि कोई छोटा-वडा नही है। सव एक

ही से जन्मते और एक ही से मरते हैं। ईश्वर ने जिसके सिर पर भार रख दिया है उसे अंत तक निबाह ले जाना ही बड़प्पन है। आपने कुछ दिनो तक क्वीस कालेज में गणित के प्रोफ़ेसर का भी काम किया था, और अनेक वर्षो तक काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के सभापति रहे। आपकी विद्वत्ता पर मुग्ध होकर गवर्मेंट ने आपको महामहोपाध्याय की उपाधि से भूषित किया था। आपकी सुकीर्ति यूरोप तक फैली थी।

आपका देहात २८ नवबर सन् १९१० को काशी में हुआ। पडित जी ने मातृ-भाषा हिंदी की बहुत कुछ सेवा की पर अत में कुछ कुचक्रियो के फेर में पड़कर 'रामकहानी' नाम की पुस्तक लिखकर उसकी उन्नति के मार्ग में बाधा डाली। सबसे विशेष बात इनमे यह थी कि जहाँ काशी के पडितगण हिंदी को भाखा, भाखा कहकर हेय दृष्टि से देखते और उसकी उपेक्षा करते थे वहाँ उन्होने उसका पक्ष ग्रहण कर उसके भांडार को भरने का सतत प्रयत्न किया।

(२८) बाबू शिवनंदनसहाय

आरा नगर से प्राय एक कोस पश्चिम इख़्तियारपुर नाम का एक बहुत पुराना गाँव है। वहाँ अधिकतर श्रीवास्तव कायस्थो की ही बस्ती है। बाबू शिवनंदनसहाय का जन्म और निवासस्थान यही इख़्तियारपुर है। बादशाही समय में इनके पूर्वज आरा परगने के कानूनगो हुआ करते थे। इनके दादा बाबू गुरुसहाय गाजीपुर के तहसीलदार थे। बाबू गुरुसहाय के चार पुत्र थे, जो सबके सब पढे-लिखे तथा सरकारी अदालतो में अच्छे पदो पर नियुक्त थे। बाबू कालीसहाय उन चारों में सबसे छोटे थे। इनके दो पुत्र हुए, बाबू शिवनदनसहाय और महानद-सहाय। छोटे महानदसहाय का देहात बाल्यावस्था ही मे हो गया था।

बाबू शिवनदनसहाय ।

बाबू शिवनदनसहाय का जन्म सवत् १९१७ आश्विनशुक्ला २ सोमवार को हुआ था। बाल्यावस्था में इन्हें नियमानुसार पहले फारसी की ही शिक्षा दी गई थी। कुछ सयाने होने पर ये बाँकीपुर में जाकर अँगरेजी पढ़ने लगे। वही इन्होने एट्रेंस पास किया। इसके अनतर २१ वर्ष की अवस्था में ये पटने की जजी में सेकेंड क्लार्क हो गए। उस पद पर कुछ दिनो काम कर चुकने पर इनकी उन्नति हुई। पहले ये अकाउटेंट और फिर हेड क्लार्क नियत हुए। फिर ये उसी दफ्तर में अनुवादक का काम करते रहे।

युवावस्था मे इन्होने स्वर्गीय साहित्याचार्य पडित अंबिकादत्त व्यास के अनेक व्याख्यान सुने थे और उन्ही के उत्साह दिलाने पर इनकी रुचि हिंदी की ओर हुई। ये हिंदी पढने लगे और थोड़े ही दिनो में इन्होने हिंदी के अनेक ग्रथ पढ डाले। गोस्वामी तुलसीदास तथा भारतेंदु बाबू हरिश्चद्र के ग्रथो को ये बडी रुचि से पढा करते थे। उन्ही ग्रंथो को देखकर इन्हें कविता करने का उत्साह हुआ। पटना-हरिमदिर के महत बाबा सुमेरसिंह जी हिंदी-काव्य के बहुत अच्छे ज्ञाता थे। उन्ही से ये कविता सीखने लगे और थोडे ही समय में उसमें इन्होने अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। इसके अनतर इन्होने बँगला और पजाबी भाषाओ का भी अभ्यास कर लिया।

स्वर्गीय पडित अबिकादत्त व्यास के साथ इन्होने युक्त-प्रात तथा पजाब के सभी मुख्य-मुख्य स्थानो में भ्रमण किया था। इसके अतिरिक्त इन्होंने स्वय भी सपरिवार अनेक तीर्थों तथा प्रसिद्ध-प्रसिद्ध स्थानो की यात्रा की थी।

हिंदी-गद्य और पद्य में इन्होने अनेक पुस्तकें लिखी हैं जिनमे दयानदमतमूलोच्छेद, विचित्रसंग्रह, सुदामा नाटक, कविताकुसुम, कृष्ण और

सुदामा आदि विशेष उल्लेख के योग्य हैं। भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र की बडी जीवनी के लेखक भी ये ही थे। पडित अबिकादत्त व्यास-कृत गोसकट नाटक का न्होने अँगरेजी मे अनुवाद किया था। श्रीसीतारामशरण भगवानप्रसाद की एक जीवनी भी इन्होने लिखी है, जिसके एक ही वर्ष मे दो सस्करण हुए हैं। इनके अतिरिक्त तुलसीदास की जीवनी तथा साहब प्रसादसिह और बाबा सुमेरसिह की जीवनियाँ आपने लिखी है। ये अच्छे लेखक थे और इनकी समालोचना सारगर्भित होती थी। इनका देहात संवत् १९८९ मे हुआ।

इनका स्वभाव बहुत सरल था। ये कट्टर सनातनधर्म्मावलबी थे। साधु-महात्माओ की सगति और सेवा मे ये बहुत प्रसन्न रहते थे। ये कानो से कुछ ऊँचा सुनते थे।

(२९) बाबू देवकीनंदन खत्री

मुल्तान के दीवान तथा तालुकेदार लाला नौनिद्धिराय एक बडे भारी आदमी थे। उनकी कई पीढ़ी पीछे उनकी सतान के कई लोग लाहौर मे आ बसे, परतु राजा रणजीतसिह के पुत्र शेरसिह के समय में जब लाहौर में एक प्रकार की अराजकता-सी फैल गई तब लाला अचरजमल सपरिवार लाहौर छोड़कर काशी मे आ बसे।

लाला अचरजमल के दो पुत्र हुए, लाला नदलाल और लाला ईश्वरदास। लाला नदलाल के तीन लडके हुए, बाबू देवीप्रसाद, बाबू भगवानदास और बाबू नारायणदास, और लाला ईश्वरदास के पुत्र हमारे चरितनायक बाबू देवकीनदन थे।

आपका जन्म सवत् १९१८ के आषाढ मास मे हुआ था, आपकी माता मुजफ्फरपुर के बाबू जीवनलाल महता की बेटी थी। इस कारण इनके

बाबू देवकीनंदन खत्री।

पिता अक्सर वही रहा करते थे। इनका जन्म भी मुजफ्फरपुर मे हुआ था और वही इनका लालन-पालन भी हुआ। कुछ बडे होने पर इनको पहले हिंदी और फिर सस्कृत पढाई गई, फारसी भाषा से इन्हें स्वाभाविक प्रेम था परतु इनके पिता की उस ओर बडी अरुचि थी। इसी कारण ये बाल्यावस्था मे तो फारसी न पढ सके परतु १८ वर्ष की अवस्था के अनतर जब ये गया जी मे स्वतत्र रहने लगे तब इन्होने फारसी और उसी के साथ-साथ कुछ अँगरेजी का अभ्यास भी किया।

गया जिले के टिकारी-राज्य से इनके पिता का व्यापारिक सबध था। इसी कारण इन्होने गया जी मे एक कोठी खोली और वहाँ उसका स्वतत्र प्रबध करने लगे। वहाँ इनको अच्छी आमदनी थी। बस एक तो रुपया पास, दूसरे युवावस्था, तीसरे स्वतत्रता, तीनो ने अपना चमत्कार दिखलाया और अपने पात्र से मनमाना नाच नचवाया। कुछ दिनो पीछे जब टिकारी-राज्य मे नाबालगी के कारण सरकारी प्रबध हो गया और इनका उस राज्य से सबध टूटा तब ये काशी चले आए, उस समय इनकी २४ वर्ष की अवस्था थी।

टिकारी-राज्य मे बनारस के राजा महाराज ईश्वरीप्रसाद नारायण-सिह की बहिन ब्याही थी। इसी से ये बनारस मे उक्त महाराज के कृपा-पात्र हुए। इन्होने मुसाहब बन कर दरबार मे रहना तो पसद न किया परतु चकिया और नवगढ के जगलों का ठीका लिया। इन जगलो की लाह, लकडी तथा और और पैदावार की आमदनी इनको थी। इसी कारण इनको सब जगह घूमना-फिरना पडता था। इस अवस्था में इन्होने जगल की खूब सैर की। उक्त जगलो के बीहड, वन, पहाडी, खोहें और प्राचीन इमारतो के अवशेष आदि दर्शनीय स्थान इन्होने बडी सावधानी से देखे।

इसी समय इनको कुछ लिखने की धुन समाई और हिंदी में चंद्रकाता नामक उपन्यास लिखने का इन्होंने लग्गा लगा दिया। इस पुस्तक में इन्होने अपने गया जी की जवानी के तजुर्बे और काशी में आने पर अपनी आँखो देखी हुई जगलो की बहार का वर्णन किया है। चंद्रकांता पहले हरिप्रकाश प्रेस से छप कर प्रकाशित हुई। यह पुस्तक सर्वसाधारण को बड़ी रुचिकर हुई; यहाँ तक कि सैकड़ों आदमी इसी की बदौलत हिंदी के पाठक बन गए और कई एक को इसी की बदौलत हिंदी लिखने का शौक़ लग गया।

चंद्रकाता और सतति के ११ नबर हरिप्रकाश प्रेस में छपे, इसके पीछे सन् १८९८ के सितबर में आपने लहरी प्रेस नाम से अपना निज का प्रेस खोल लिया। इनके नरेंद्रमोहनी, कुसुमकुमारी, वीरेंद्रवीर, काजर की कोठरी और भूतनाथ ये पाँच उपन्यास और भी हैं। ये सब निज कल्पनाशक्ति से लिखे गए हैं। इन्होंने अपने निज के खर्चे से सुदर्शन नाम का एक मासिक पत्र भी निकाला था जो कि उस समय हिंदी मे एक प्रसिद्ध मासिक पत्र था। संपादक इसके पंडित माधवप्रसाद मिश्र थे। परन्तु संपादक महाशय का देहात हो जाने से सुदर्शन का भी अदर्शन हो गया।

बाबू देवकीनदन ने हिंदी-साहित्य के एक अंग की पूर्ति मे बहुत नाम पाया है और इसी से उनके द्वारा हिंदी भाषा का भी बहुत उपकार हुआ है।

इनका देहात १ अगस्त १९१३ को हुआ।

बाबू देवकीनदन खत्री हिंदी में मौलिक उपन्यासों के प्रवर्त्तक माने जा सकते हैं। यद्यपि इनके उपन्यास ऐयारी की लीला से भरे हुए हैं, उनमें उन गुणो का सर्वथा अभाव है जो किसी उपन्यास के मूल तत्त्व

मेहता लज्जाराम शर्म्मा।

माने जाते है तथापि यह मानना पड़ेगा कि इन्होने सीधी-सादी हिंदी में इन रोचक कहानियो को लिखकर हिंदी-प्रसार में बडी सहायता पहुँचाई। इनकी भाषा बहुत सरल होती थी। इनके ग्रथो के प्रचार का यह भी मुख्य कारण है।

(३०) मेहता लज्जाराम शर्मा

मेहता लज्जाराम जी बड़नगर (गुर्जर) ब्राह्मण थे। इनका ऋग्वेद, शाखायनी शाखा, औक्षणस गोत्र और मेहता अवटक था। नियमानुसार इनके वश में दान या कन्या का धन लेना वर्जित है और बहुत ही निषिद्ध समझा जाता है।

इनके पूर्वज पहले गुजरात के बडनगर नामक स्थान में रहकर व्यापार करते थे। सवत् १८१५ के लगभग इनके प्रपितामह बूँदी, कोटा आदि राज्यो से होते हुए सवाई माधवपुर पहुँचे। उनके पुत्र गणेशराम जी कई स्थानो से होते हुए बूँदी चले गए थे। सवत् १९११ में उनके पुत्र गोपालराम जी (मेहता लज्जाराम जी के पिता) बूँदी-राज्य में नौकर हुए। राज्य का तोशाखाना उनके सुपुर्द था। उसी पद पर २७ वर्ष तक उन्होने अपना जीवन बिता दिया और एक को छोडकर किसी दूसरे मालिक की नौकरी नही की। सवत् १९३८ मे उनका देहात हो गया। उनके दस पुत्र और पाँच कन्याएँ थी।

लज्जाराम जी का जन्म चैत कृष्ण २ सवत् १९२० को बूँदी-राज्य में हुआ था। बूँदी में कोई स्कूल न होने के कारण इनकी यथोचित शिक्षा न हो सकी। तो भी इन्होने अपने शौक से अँगरेजी का साधारण ज्ञान प्राप्त कर लिया था। इसके अतिरिक्त सस्कृत, मराठी, गुजराती और उर्दू आदि भाषाओ का भी इन्हें अच्छा ज्ञान था। पिता

जी के मरने के समय इनकी अवस्था १८ वर्ष की थी, इसलिये इन्हे अपने पिता का पद मिल गया । इन्हे विद्याभ्यास का शौक अधिक था; इसलिये तीन वर्ष तक उस पद पर रहने के अनतर इन्होंने अपनी बदली शिक्षा-विभाग में करा ली। उस समय ये बूँदी की पाठ-शाला मे सेकेंड मास्टर के पद पर नियुक्त हुए। इस काम को इन्होंने १८ वर्ष तक किया। इस बीच में कुछ दिनो तक ये "श्रीरगनाथ मुद्रालय" के मैनेजर और कोई चार वर्ष तक "सर्वहित" नामक पाक्षिक पत्र के सपादक रहे। इस प्रकार घर पर रहकर ही ये अपना समय व्यतीत करते थे। पर एक बेर राज्य के एक उच्च अधिकारी से किसी सामाजिक कार्य मे इनकी खटपट हो गई और सेठ खेमराज के बुलाने पर ये "श्रीवेंकटेश्वरसमाचार" का सपादन करने के लिये बबई चले गए। सन् १८९७ से १९०४ तक इन्होने "श्रीवेंकटेश्वर" का सपादन किया। इनके सपादनकाल मे उक्त पत्र मे सनातनधर्म, सामाजिक सुधार, कृषि, शिल्प और वाणिज्य आदि पर उपयोगी लेख निकलते रहे और पत्र की अच्छी उन्नति हुई। अनुवाद और स्वतत्र सब मिलाकर आपने हिंदी में २५ से अधिक पुस्तकें लिखी हैं। स्वतंत्र लिखे हुए उपन्यासो मे धूर्त, रसिकलाल, हिंदू गृहस्थ, आदर्श दपति, बिगडे का सुधार, आदर्श हिंदू आदि कई सामाजिक घटनापूर्ण उपन्यास बहुत उत्तम और सुपाठ्य है। इसके अतिरिक्त इनकी अमीर अब्दुलरहमान, विक्टोरिया-चरित्र, बीरबलविनोद, भारत की कारीगरी आदि पुस्तकें सगृहीत और कपटी मित्र, विचित्र स्त्री-चरित्र, राजशिक्षा, बालोपदेश, और नवीन भारत आदि पुस्तकें अनुवादित हैं। इनमे से अधिकाश पुस्तकें श्रीवेंकटेश्वर प्रेस में ही छपी है और श्रीवेंकटेश्वरपत्र के संपादन-काल में ही लिखी गई हैं।

पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ।

बबई में जब इनका स्वास्थ्य बहुत खराब हो गया तब सवत् १९६१ मे ये फिर बूँदी चले गए। राजा और प्रजा दोनो का ही इन पर समान विश्वास और प्रेम था। इसलिये इनकी योग्यता से प्रसन्न होकर बूँदी-नरेश ने इन्हे राजपूताने के एजेट गवर्नर-जेनरल की सेवा मे राज्य की ओर से वकील बना कर भेज दिया। अत तक आप उसी पद पर नियुक्त रहे और योग्यतापूर्वक अपना कार्य करते रहे।

ये परम वैष्णव थे और साप्रदायिक झगडो से सदा अलग रहते थे। गाने-बजाने, खेल-तमाशे, या सैर-सपाटे का इन्हें ज़रा भी शौक नही था। इनके अवकाश का समय पुस्तके पढने या लेख आदि लिखने में जाता था। स्वभाव इनका बहुत ही सीधा-सादा और मिलनसार था। किसी से विरोध हो जाने पर भी ये उसके गुणो की प्रशंसा ही करते थे और सदा उससे शिष्ट व्यवहार रखते थे। अभिमान या और कोई दोष इन्हे छू तक नही गया था।

इनका देहात सौर श्रावण २ सवत् १९८८ में हुआ। इन्होने अपना जीवन-चरित भी लिखा है जो प्रकाशित हो गया है।

(३१) पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी

अवध-प्रात के अतर्गत जिला रायबरेली में दौलतपुर नाम का एक गाँव है। दौलतपुर मे हनुमत द्विवेदी नाम के एक प्रसिद्ध पंडित हो गए हैं। इनके दुर्गाप्रसाद, रामसहाय और रामजन ये तीन पुत्र थे। रामजन तो बाल्यावस्था ही में मर गए। दुर्गाप्रसाद गौरा के ताल्लुकेदार के यहाँ नौकर थे। उनमें एक गुण बड़ा विलक्षण था कि वे तरह-तरह के नये-नये बडे ही मनोरंजक किस्से बनाकर कहा करते थे। तीसरे रामसहाय फौज में नौकर थे। सिपाही-विद्रोह

के पीछे वे फौजी नौकरी छोडकर बबई में गोस्वामी चिमनलाल और फिर गोस्वामी नृसिहलाल के यहाँ नौकर हो गए थे। वे बड़े भगवद्भक्त थे और महावीर जी का इष्ट रखते थे। उनके एक कन्या और एक पुत्र---दो संतान हुए।

रामसहाय के पुत्र का जन्म संवत् १९२१, वैशाख शुक्ल ४ को हुआ और उसका नाम महावीरप्रसाद रक्खा गया। महावीरप्रसाद के जन्म के आध घटे बाद जातकर्म होने के पहले पडित सूर्यप्रसाद द्विवेदी नामक एक ज्योतिर्विद् ने उनकी जिह्वा पर सरस्वती का बीज-मत्र लिखा। गाँव के मदरसे मे इन्होने हिंदी और उर्दू पढ़ी और घर पर अपने चाचा पंडित दुर्गाप्रसाद के प्रबंध से इन्होने थोड़ा-सा संस्कृत-व्याकरण, दुर्गासप्तशती, विष्णुसहस्रनाम, शीघ्रबोध और मुहूर्तचिंतामणि आदि पुस्तकें कंठ की। देहाती मदरसे की शिक्षा समाप्त होने पर ये ३२ मील दूर रायबरेली के हाईस्कूल में अँगरेजी पढ़ने के लिए भेजे गए। उस समय इनकी अवस्था केवल १३ वर्ष की थी। अँगरेजी के साथ इनकी दूसरी भाषा फारसी हुई, क्योकि उस स्कूल में संस्कृत पढ़ाई ही नही जाती थी।

दौलतपुर से रायबरेली बहुत दूर पडती थी। इसलिये वहाँ से चले आकर इन्होनें जिला उन्नाव के पुरवा कस्बे में एँग्लो वर्नाक्यूलर टाउन स्कूल में नाम लिखाया। पर कुछ दिनो पीछे वह स्कूल टूट गया। तब ये फतहपुर के स्कूल में गए और वहाँ से उन्नाव। उन्नाव से ये अपने पिता के पास बबई चले गए। बबई में न्होने मराठी और गुजराती सीखी और सस्कृत और अँगरेजी का भी कुछ अभ्यास किया। कुछ दिन विद्याध्ययन करने के अनतर अपने देश के चार यार-दोस्तो के कहने में आकर इन्होने रेलवे में नौकरी

कर ली। वहाँ से ये नागपुर आए। परंतु वह जगह पसद न आने से इन्होंने अजमेर की यात्रा की और वहाँ राजपूताना रेलवे के लोको आफिस में नौकर हो गए। परतु वहाँ से एक वर्ष पीछे वे फिर बबई चले आए।

बबई आकर इन्होने तार का काम सीखा और फिर जी० आई० पी० रेलवे में सिगनलर हो गए। वहाँ क्रम क्रम से इनकी उन्नति होती रही। हर्दा, खडवा, हुशगाबाद और इटारसी में इन्होंने कोई पाँच वर्ष काम किया। उसी बीच में तार के काम के सिवा न्होने और और काम भी सीखे। फौज के काम में इन्होने विशेष करके सबसे अधिक प्रवीणता प्राप्त की।

जबलपुर के डिस्ट्रिक्ट ट्राफिक सुपरिंटेंडेंट, डब्लू० वी० राइट जब इडियन मिडलैंड रेलवे के जनरल ट्राफिक मैनेजर हुए तब उन्होने इन्हें अपने साथ ले जाने को चुना और झाँसी में टेलिग्राफ इंस्पेक्टर नियत किया। यहाँ पर कानपुर से इटारसी और आगरे से मानिकपुर तक सारी लाइन का तारसबधी काम इनके सुपुर्द हुआ। इन्होंने तार-सबधी एक पुस्तक अँगरेजी में लिखी और नई तरह का लाइन-क्लियर ईजाद करने में बडी योग्यता दिखलाई। कुछ दिनो के अनतर ये हेड टेलिग्राफ इस्पेक्टर कर दिए गए।

रात-दिन के दौरे के काम से इनकी तबीअत उकता गई थी। इसलिये इन्होंने जनरल ट्राफिक मैनेजर के दफ्तर मे अपनी बदली करा ली। यहाँ ये क्लेम्स डिपार्टमेंट के हेडक्लर्क नियत हुए। जब आई० एम० और जी० आई० पी० दोनो रेलें एक हो गईं तब ये बबई बदल गए। वहाँ इनको एक विशेष ऊँचा पद मिलनेवाला था, पर वहाँ रहना इन्होंने स्वीकार न करके पुन झाँसी को अपनी बदली करा

ली। इस बेर ये डिस्ट्रिक्ट ट्रैफिक सुपरिटेडेट के चीफ क्लर्क हुए।

झाँसी मे ही बगालियो की सगति से इन्होने बँगला भाषा का अभ्यास किया और सस्कृत मे विशेष करके काव्य और अलकार-शास्त्र का अध्ययन किया। इन्हे हिदी-कविता का लडकपन ही से शौक था। बस, इन्होने हिंदी-भाषा की सेवा करने के लिए कलम उठाई।

द्विवेदी जी नौकरी छोड़कर साहित्य-सेवा करने का विचार पहले ही से कर रहे थे। इतने मे एक ऐसी घटना हो गई जिसके कारण उन्हे नियत समय से कुछ पहले ही अपने विचार को कार्य मे परिणत करना पड़ा। झाँसी मे पुराने डिस्ट्रिक्ट ट्रैफिक सुपरिंटेडेट की बदली हो जाने पर जो नये साहब आए उनसे इनसे कुछ कहा-सुनी हो गई। उसी पर इन्होने अपनी नौकरी से इस्तीफा दे दिया। तब से ये बिलकुल स्वतत्र होकर हिदी की सेवा मे लगे रहे। सन् १९०३ मे उन्होने सरस्वती पत्रिका का संपादन-भार लिया और लगभग २० वर्षो तक वे यह काम करते रहे। इनके संपादन मे सरस्वती की खूब उन्नति हुई और साथ ही द्विवेदी जी की प्रतिष्ठा भी हिंदी लेखको मे बढी।

द्विवेदी जी ने जो योग्यता प्राप्त की थी वह सब अपने ही परिश्रम का फल था। एक पुरुष अपने ही उद्योग से कहाँ तक विद्वत्ता प्राप्त कर साहित्य-सेवा कर सकता है इसके आप आदर्श है। रेलवे के काम में रहकर भी विद्याध्ययन बनाए रखना आपकी दृढ प्रकृति का परिचय देता है।

द्विवेदी जी हिंदी और सस्कृत दोनो भाषाओ के कवि थे। नई तरह की हिदी कविता जो आज-कल सामयिक पत्रो और पुस्तकों मे देखी जाती है उसके आप पूर्ण पक्षपाती थे। आपकी कुछ कविताएँ

"काव्य मजूषा" नामक पुस्तक मे प्रकाशित हुई है। "कुमारसम्भवसार" आपकी कवित्वशक्ति का अच्छा नमूना है।

द्विवेदी जी समालोचक भी थे। आपकी "नैषधचरितचर्चा", "विक्रमाकदेवचरितचर्चा", "कालिदास की निरकुशता", "हिंदी कालिदास की समालोचना" आदि पुस्तके इसका प्रमाण है।

जब से द्विवेदी जी ने नौकरी छोडी थी तब से प्रतिवर्ष आप एक न एक नई और उपयोगी पुस्तक लिखते थे। जान स्टुअर्ट मिल की "लिबर्टी" नामक पुस्तक का जो अनुवाद आपने किया है वह "स्वाधीनता" नाम से प्रसिद्ध है। उसके दो सस्करण हो चुके है। प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता हर्बर्ट स्पेसर की "एजुकेशन" नामक पुस्तक का भी अनुवाद आपने किया है। इसका नाम "शिक्षा" है। आपकी तीसरी पुस्तक "सपत्ति-शास्त्र" है। हिदी-भाषा मे यह पुस्तक अद्वितीय है। इसके अतिरिक्त आपने महाभारत, रघुवश आदि कई अच्छे ग्रथ लिखे है। इन पुस्तको के पहले द्विवेदी जी ने "बेकनविचार-रत्नावली" नामक पुस्तक-द्वारा लार्ड बेकन के मुख्य-मुख्य निबधो का अनुवाद भी प्रकाशित किया है।

द्विवेदी जी बहुत दिनो तक काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के साधारण सभासद् रहे थे। पीछे वे उसके आनरेरी सभासद थे। सभा के लिये आपने वैज्ञानिक कोश मे प्रकाशित करने के लिये दार्शनिक परिभाषा लिखकर सभा की बहुत सहायता की थी।

द्विवेदी जी बडे परिश्रमी थे। लिखने-पढने मे आप अपना सारा समय बिताते थे। अधिक परिश्रम के कारण आप प्राय अस्वस्थ रहते थे। इनके सरस्वती मे प्रकाशित लेखो के अनेक सग्रह प्रकाशित हो चुके है। इनके सब ग्रथो की सूची आगे लिखी है—

अदभुतआलाप, आख्यायिकासप्तक, आध्यात्मिकी, आलोचनाजलि, कविताकलाप, कालिदास की निरंकुशता, किरातार्जुनीय की टीका, कुमारसंभव की टीका, कुमारसंभवसार, कोविदकीर्तन, चरितचर्या, जलचिकित्सा, नाटय-शास्त्र, नैषधचरितचर्चा, प्राचीन चिह्न, प्राचीन पडित और कवि, पुरातत्त्वप्रसंग, मेघदूत की टीका, रघुवंश की टीका, रसज्ञरजन, लेखाजलि, वनिताविलास, वाग्विलास, विक्रमाकदेवचरितचर्चा, विचारविमर्श, विदेशी विद्वान्, विज्ञानवार्त्ता, वेणीसंहार नाटक, वैचित्र-चित्रण, शिक्षा, संकलन, सपत्तिशास्त्र, साहित्यसदर्भ, साहित्यसीकर, स्वाधीनता, सुकविसंकीर्तन, सुमन, हिंदी भाषा की उन्नति, हिंदी महाभारत, काव्यमंजूषा, हिंदी कालिदास की समालोचना, बेकनविचाररत्नावली, कालिदास और उनकी कविता।

द्विवेदी जी की आदि रचनाओ को देखने से यह विदित होता है कि वे बडी ही शिथिल और असस्कृत भाषा में लिखी गई है और उनमें व्याकरण की अशुद्धियाँ भी हैं। बेकनविचाररत्नावली में तो उन्होने कठिन सस्कृतशब्दो का बहुलता से प्रयोग कया है। स्वाधीनता, शिक्षा और सपत्तिशास्त्र के अनुवादो में उनकी विचित्र रुचि का पता चलता है । एक संस्कृतशब्द देकर वे उसका पर्याय फारसी का देते गए है। उनकी भाषा का परिमार्जन और सस्कार उनके सरस्वती के सपादक होने के कुछ पूर्व तथा नागरी-प्रचारिणी पत्रिका में उनके प्रकाशित लेखो से होता है । इडियन प्रेस के स्वामी बाबू चिंतामणि घोष ने उनसे यह कह दिया था कि वे बहुत सीधी-सादी हिंदी में सरस्वती मे लेख देगे । इस प्रतिज्ञा का यह प्रभाव पड़ा कि वे सतर्क होकर लिखने लगे और हिंदी के परिमार्जित तथा सुसस्कृत रूप के घोर समर्थक

हुए। इसके लिये उनका कटु समालोचना करना भी एक प्रकार से आवश्यक हो गया। जिस ध्येय को लेकर वे हिंदी के मैदान में उतरे उसमे सफलता पाने के लिये कुछ पांडित्य, कुछ अभिमान और कुछ अहम्मन्यता का सम्मिश्रण आवश्यक था। प्रतिद्वंद्वी का सामना करने मे वे अविचल भाव से मैदान मे उतर पडते थे। इन सब कार्यों और उद्योगो का यह फल हुआ कि उन्होंने हिंदी-लेखको को सचेत कर दिया और वे सोच-समझकर हिंदी लिखने लगे। सारांश यह कि उनके उद्योग से हिंदी-गद्य का मार्ग, जो अब तक रोड़ो से भरा हुआ था, वहुत कुछ साफ हो गया, और हिंदी का रूप स्थिर हो गया। खडी बोली की कविता के प्रसार मे भी उन्होंने बडा परिश्रम किया। कुछ कविताएँ आप लिखीं और वहुत-से नवीन कवि तैयार किए। सच बात तो यह है कि द्विवेदी जी आधुनिक हिंदी के निर्माताओ मे प्रमुख स्थान के अधिकारी है। निर्माण का जितना कौशल उन्होंने सफलतापूर्वक दिखाया उतना आचार्यत्व को वे न दिखा सके। उनकी शैली सीधी-सादी थी। उसमे कोई विशेषता न थी। उनकी भाषा का सच्चा रूप उनके कानपुर के साहित्य-सम्मेलन मे स्वागताध्यक्ष के अभिभाषण में ही देख पडता है। वे हिंदी-साहित्य को कोई स्थायी देन न दे सके। नाटयशास्त्र पर उनकी पुस्तिका मे कोई विशेषता नही। वैसे ही हिंदी भाषा का इतिहास भी डाक्टर ग्रियर्सन के लेख का साराश मात्र है। साराश यह कि हिंदी के सस्कार के सवध में उनका सफल प्रयत्न सर्वथा स्तुत्य है, पर हिंदी-साहित्य के भाडार की पूर्त्ति उनके द्वारा नगण्य-सी है।

द्विवेदी जी सब काम वडी व्यवस्था से करते थे और व्यवहार मे वडे पटु थे। दूसरो की व्यवहार-त्रुटि को क्षमा करना भी नही

जानते थे । जब से वे सरस्वती के संपादन-कार्य से अलग हुए तब से उनके स्वभाव में बडा परिवर्तन हो गया। वे नम्र और सहनशील हो गए। जब तक जीवित रहे विद्याव्यसन ही उनका एकमात्र कार्य था। वे जलोदर रोग से पीडित हुए और इसी से २१ दिसबर सन् १९३८ को ७४ वर्ष की आयु मे उनका स्वर्गवास हुआ। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने उनकी सेवाओ के उपलक्ष में बड़े समारोह के साथ उनका अभिनदन किया था और हिंदी-साहित्य-सम्मेलन ने उन्हे साहित्य-वाचस्पति की उपाधि दी थी।

(३२) लाला बालमुकुंद गुप्त

लाला बालमुकुद जी अग्रवाल वैश्य थे। इनका जन्म सन् १८६५ ई० में पजाब के रोहतक जिले के गुरयानी नामक ग्राम में हुआ था।

पजाब-प्रांत मे इस समय हिंदी की जो कुछ थोडी-बहुत चर्चा है सो आर्य्यसमाज और कन्यामहाविद्यालय की बदौलत है, परतु जिस समय गुप्त जी की बाल्यावस्था थी उस समय तो वहाँ हिंदी का काला अक्षर भैंस बराबर था। गुप्त जी को बाल्यावस्था में केवल उर्दू-फारसी की शिक्षा दी गई थी। वय प्राप्त होने पर आपने हिंदी का अध्ययन अपने शौक से किया था। इनको अच्छे-अच्छे मजमून लिखने का अभ्यास बालकपन से ही था। जब आप घर पर थे तभी लखनऊ के अखबार और अवध-पच, लाहौर के कोहनूर, मुरादाबाद के रहबर और स्यालकोट के विक्टोरिया पेपर आदि अखबारो में लेख लिखा करते थे। इसलिये इनका नाम तभी से लेखको मे प्रसिद्ध था।

चुनार के प्रसिद्ध रईस बाबू हनुमानप्रसाद ने जब चुनार से "अखबारे चुनार" निकाला तब उन्होने लाला बालमुकुद को बुलाकर

लाला बालमुकुंद गुप्त ।

उसका सपादक नियत किया। इन्होने अखबारे चुनार को ऐसी योग्यता से चलाया कि उसे सयुक्त-प्रात के सब अखबारो में सिरे कर दिया, परतु कुछ दिनो पीछे गुप्त जी लाहौर चले गए और वहाँ सप्ताह मे तीन बार निकलनेवाले "कोहनूर" के सपादक हुए। कुछ दिनो मे आपने उस पत्र को दैनिक कर दिया।

उन्ही दिनो कालाकाँकर के राजा रामपालसिह जी ने इँगलैंड से आकर "हिदी हिंदोस्थान" पत्र निकालना आरभ किया था। पंडित मदनमोहन मालवीय उसके सपादक थे। वृदावन मे श्री भारतधर्म्म-महामडल के अधिवेशन मे मालवीय जी गए थे और गुप्त जी भी वहाँ आए थे। पडित दीनदयालु शर्म्मा द्वारा दोनो महाशयो का परस्पर परिचय हुआ। अस्तु, जब मालवीय जी हिंदोस्थान का सपादन छोडने लगे तब इन्होने गुप्त जी को कालाकाँकर में बुलाकर सहकारी संपादको में नियत करवाया। राजा साहब स्वय सपादक थे। पडित प्रतापनारायण मिश्र, पडित राधारमण चौबे, चौबे गुलाबचद, पडित रामलाल मिश्र, बाबू शशिभूषण चैटर्जी, पडित गुरुदत्त शुक्ल और बाबू गोपालराम आदि लेखको की कमेटी उनकी सहायक थी और लाला बालमुकुद गुप्त उस कमेटी के सभापति या मुखिया थे।

कुछ दिनो के अनतर गुप्त जी कालाकाँकर से अपने घर चले गए। इनके जाते ही उक्त नवरत्न कमेटी तीन-तेरह हो गई। उन्ही दिनो कलकत्ते मे हिंदी-बगवासी का जन्म हुआ। जिस समय काशी मे भारतधर्म्ममहामडल का अधिवेशन हुआ तब बगवासी के स्वामी वहाँ आए थे। गुप्त जी भी घर से आकर इस अधिवेशन में सम्मिलित हुए थे। यही बगवासी के स्वामी से इनका परिचय हो गया। उन्ही दिनो हिंदी बगवासी मे "शिक्षित हिंदू बाला" नाम का एक

उपन्यास निकलता था। जब गुप्त जी काशी से लौटकर घर आए तब इन्होने उक्त उपन्यास की समुचित समालोचना करते हुए बग-वासी-संपादक बाबू अमृतलाल चक्रवर्ती को एक पत्र लिखा । उसके उत्तर मे उन्होने गुप्त जी की कृतज्ञता प्रकट की और उन्हे कलकत्ते बुलाकर अपना सहकारी नियत किया । यह बात सन् १८९३ ई० की है।

कुछ दिनो के पीछे गुप्त जी बगवासी के संपादक हुए। वहाँ सात वर्ष तक आपने बडी योग्यता से काम किया परतु जब बंगवासी के मालिको मे परस्पर झगडा हो गया तब इन्होने इस्तीफा दे दिया और घर चले गए। घर पहुँचे देर न हुई थी कि भारतमित्र के मालिको ने इन्हे कलकत्ते बुला लिया और भारतमित्र का संपादन-भार इनको दिया। तब से जीवन-लीला के समाप्त होने तक इन्होंने भारतमित्र का सपादन बड़ी योग्यता से किया। लाला बालमुकुंद गुप्त का परलोकवास सन् १९०७ भाद्रशुक्ला ११ बुधवार को देहली मे हुआ । गुप्त जी एक बडे ही चतुर और बुद्धिमान् पुरुष थे। इनके लिखे हुए पुस्तका-कार लेखो मे तो केवल रत्नावली-नाटिका, हरिदास, शिवशम्भु का चिट्ठा, स्फुट कविता और खिलौना आदि पुस्तके है। पहले पहल इन्होने मडेलभगिनी का अनुवाद किया था जिसकी प्रच्छन्न रूप से नागरी-प्रचारिणी सभा ने तीव्र समालोचना की थी। आपकी लेख-प्रणाली बडी ही उत्तम थी। आप अच्छे समालोचक थे। इनके सब लेख प्रभाव-जनक होते थे। गुप्त जी हिंदी के लब्धप्रतिष्ठ लेखको मे थे। इनकी भाषा सरल, पुष्ट और परिमार्जित होती थी। कविता भी सरस करते थे। प्रतिवर्ष टेसू के नाम से ये व्यग्यपूर्ण कविता छापते थे जिसका पठन-पाठन बड़े प्रेम मे पाठक करते थे। भाषा की अनस्थिरता को

बाबू ठाकुरप्रसाद खत्री ।

लेकर इनमें और पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी मे बडे मार्के का विवाद चला था जिसकी उन दिनो में बडी धूम थी।

(३३) बाबू ठाकुरप्रसाद खत्री

बाबू ठाकुरप्रसाद का जन्म सन् १८६५ मे, काशी मे हुआ था। ये पजा-जातिवाही खत्री थे। इनके पिता बाबू विश्वेश्वरप्रसाद काशी के सरकारी खजाने में हेड क्लर्क थे। इसके अतिरिक्त इनके यहाँ आढत, बनारसी माल और हुडी आदि का काम भी होता था। इनके पिता के शिक्षित होने के कारण इनकी शिक्षा का प्रबध भी बाल्यावस्था से ही किया गया था।

आरभ में इन्हे साधारण गिनती, हिंदी और फारसी की और फिर अँगरेजी की शिक्षा दी गई। गणित और विज्ञान की ओर इनकी विशेष रुचि थी। सन् १८८५ में इन्होने काशी के गवर्मेंट कालेज से कलकत्ता-युनिवर्सिटी की एट्रेंस परीक्षा पास की। सन् १८८७ में एफ० ए० की परीक्षा देने के समय यदि इनके पिता का देहात न हो जाता तो शायद ये और भी आगे पढते। पिता की मृत्यु के पीछे इन्हे कचहरी मे इनकमटेक्स-क्लर्क का काम मिल गया।

कई पदो पर काम करने के अनंतर ये पुलिस के खजानची बना दिए गए। कई वर्ष पीछे ये असिस्टेंट कोर्ट इस्पेक्टर हो गए। अपने काम से प्रसन्न करके इन्होने अपने अफसरो से कई अच्छे प्रशंसापत्र प्राप्त किए थे।

इसके अनतर ये मेरठ के थानेदार बनाकर बदल दिए गए। पर पुलिस का काम इनकी रुचि के विपरीत था, इसलिए इन्होने उसे छोड दिया और पढने-लिखने में अपना समय व्यतीत करना

आरंभ किया तथा बँगला और गुजराती आदि भाषाएँ पढ़ी। हिंदी पर विशेष रुचि होने के कारण ये उसके कई पत्रों में लेखादि लिखने लगे। कुछ दिनों पीछे ये कारमाइकल लाइब्रेरी के लाइब्रेरियन हो गए और हिंदी मे पुस्तके लिखने लगे। सबसे पहले इन्होने दो भागो मे "लखनऊ की नवाबी" नामक पुस्तक लिखी। न्होने 'विनोद-वाटिका' नामक एक मासिक पत्र भी निकाला जो दो वर्षों तक निकलता रहा। इसी बीच में इन्होने (१) भूगर्भ-विद्या, (२) ज्योतिष और (३) उत्तर-ध्रुव की यात्रा, पर तीन निबध लिखकर काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा से चाँदी के तीन पदक प्राप्त किए। अदालतो मे नागरी-प्रचार करने के लिये इन्होने सभा की ओर से कई जिलो मे दौरा भी किया। सभा-द्वारा प्रकाशित वैज्ञानिक कोष मे पदार्थ-विज्ञान और रसायन-शास्त्रवाले अश इन्ही के तैयार किए हुए थे। इंडियन प्रेस-द्वारा प्रकाशित "रामचरित-मानस" के बालकांड का मिलान करने के लिये ये अयोध्या और अयोध्याकाड के मिलान के लिये राजापुर भी गए थे।

सन् १९०५ मे जब काशी में काग्रेस के साथ प्रदर्शिनी हुई तो इन्होने वहाँ कपडा बुनने का काम सीखा। शक्कर बनाने के काम की ओर भी ये अपना कुछ समय दिया करते थे।

देश के लाभ के लिये सर्वसाधारण में व्यावसायिक शिक्षा और व्यावसायिक ग्रथो के प्रचार की बहुत आवश्यकता समझते थे। इसलिये इन्होने इसी ओर ध्यान दिया था। इस सबध मे सबसे पहले इन्होने "सुनारी" नामक पुस्तक लिखी। दूसरी पुस्तक इन्होने कपड़े की बुनाई पर "देशी करघा" नाम की लिखी। इसी बीच मे सरकार ने इन्हे हिंदी मे "व्यापारी और कारीगरी" नामक पाक्षिक पत्र निकालने के

लिये ५००) वार्षिक की सहायता देना स्वीकार किया और फिर इसी का उर्दू-सस्करण निकालने के लिये ५००) वार्षिक और बढा दिया। इस उर्दू-सस्करण का नाम "सनअत व हिरफत मुमालिक मुतहद." था।

उर्दू के "रिसाला मुफीदुल-मजारईन" के ढग पर ये हिंदी में भी एक मासिक पत्र निकालने के विचार में थे, पर बीमार पड जाने के कारण वह कार्यरूप में परिणत न हो सका। छः मास पीछे अच्छे होने पर इन्होने "जमीदार" नामक एक पत्र निकाला, पर एक वर्ष के अनंतर वह बद हो गया।

दिन पर दिन कपडा सीने की मशीनो का प्रचार बढते देख इन्होने उसके साधारण दोष दूर करने के विषय पर भी एक पुस्तक छपवाई। बडे परिश्रम से सग्रह करके इन्होने "जगत् व्यापारिक पदार्थ कोष" एक उत्तम और उपयोगी ग्रथ लिखा। इसके लिये सरकार से इन्हें १,०००) की सहायता मिली थी। ये पारिभाषिक शब्दो का भी एक कोष तैयार किया चाहते थे, जिसके लिये इन्होने बहुत-सा मसाला इकट्ठा कर लिया था। "हिंदुस्तान के ढोर डाँगर, उनकी जातियाँ और गुण" नामक एक पुस्तक भी इन्होने लिखी थी जो अब तक अप्रकाशित है। इन्होने "व्यापारी और कारीगर" नामक एक निज का प्रेस भी खोल रक्खा था।

बाबू ठाकुरप्रसाद बहुत मिलनसार, सरलचित्त और हँसमुख थे। हिंदी में व्यापार-संबंधी पुस्तको को लिखकर इन्होने अच्छी प्रसिद्धि पाई है। इनका देहात श्रावणशुक्ला १३ संवत् १९७४ में काशी मे हुआ। इनकी भाषा की विशेषता यह थी कि वे साहित्यिक रचना के पीछे न पडकर अपने विषय को हृदयगम कराने का सदा सफलता-पूर्वक उद्योग करते रहे।

(३४) बाबू राधाकृष्णदास

बाबू राधाकृष्णदास गोलोकवासी भारतेंदु बाबू हरिश्चद्र जी के फुफेरे भाई थे। बाबू हरिश्चद्र जी के पिता बाबू गोपालचद की दो बहिनें थीं, बडी यमुना बीबी, छोटी गगा बीबी। बाबू राधाकृष्णदास गंगा बीबी के दूसरे पुत्र थे। इनके पिता का नाम कल्याणदास था और बड़े भाई का नाम जीवनदास।

बाबू राधाकृष्णदास का जन्म श्रावणसुदी पूर्णिमा संवत् १९२२ को हुआ था। जब इनकी अवस्था केवल १० महीने की थी तभी इनके पिता का परलोकवास हो गया; इसके थोड़े ही दिनो पीछे इनके बड़े भाई का भी देहात हो गया। इससे बाबू हरिश्चंद्र जी ने अपनी फूफी को अपने घर बुला लिया। उन्ही के निरीक्षण में इनका लालन-पालन हुआ और उन्ही के प्रबध से इनकी शिक्षा आरभ हुई। हिंदी और उर्दू की साधारण शिक्षा घर पर हो जाने के अनतर ये स्कूल मे बैठाए गए। परंतु ये बालकपन से ही रोगग्रस्त रहा करते थे। इसी से कभी नियमपूर्वक अध्ययन न कर सके। फिर भी बाबू साहब के सुप्रबध से इन्होने सत्रह वर्ष की अवस्था तक अँगरेजी में एट्रेंस क्लास तक पढ लिया और साथ ही साथ हिंदी, उर्दू, फारसी और बँगला भाषा मे भी अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। पीछे से इन्होंने गुजराती भाषा का भी अभ्यास कर लिया था। इनका यह विद्याभ्यास उदरपोषण के लिये नही था, वरन मातृ-भाषा हिंदी की सेवा के लिये था। इसलिये इतना ही बहुत था।

बाबू राधाकृष्णदास हिंदी-साहित्याकाश के एक शुभ नक्षत्र थे। इन्होने हिंदी-साहित्य की जैसी कुछ सेवा की वह किसी साहित्य-

बाबू राधाकृष्णदास।

सेवी को अविदित नही है। इन्होने जितनी पुस्तको की रचना की सब एक से एक उत्तम और प्रभाव-जनक हैं । पुस्तक-रचना के लिये इन्हे बाबू हरिश्चद्र जी ने स्वय उत्साह दिलाया था वरन अपने सामने ही इनसे लिखवाना भी आरभ करा दिया था। इनकी सबसे पहली रचना "दुखिनी बाला" है । इसके पीछे "निस्सहाय हिंदू", "महारानी पद्मावती", "प्रताप नाटक" आदि २५ पुस्तके इन्होने रची । गद्य-लेख लिखने के सिवाय आप काव्य में भी अच्छी पैठ रखते थे और स्वय सरस और भावपूर्ण कविता करते थे । इन्होने कविता में कोई पृथक् ग्रथ तो नही रचा परन्तु स्वरचित गद्य पुस्तको मे यथा-समय जो कही-कही पर पद्य दिए हैं उन्ही से इनकी काव्य-कुशलता का पूर्ण परिचय मिलता है ।

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के नेताओ मे बाबू राधाकृष्णदास मुख्य थे। सन् १८९४ ईसवी मे, जब कि इस सभा की शिशु-अवस्था थी, सबसे पहले आप ही उसमें सम्मिलित हुए थे और अपने अतिम समय तक सभा की पूर्ण रूप से सहायता करते रहे। सभा-भवन के बनवाने में इन्होंने बडा उत्साह दिखलाया था और उसके लिये बहुत कुछ उद्योग किया था । सभा के स्थायी कोष के लिये चंदा उगाहने को सभा के डेपुटेशन के साथ घर के हजारो काम छोडकर और शरीर दुखी रहने पर भी बाबू राधाकृष्णदास कई जगह गए थे । दफ्तरो मे नागरी लिपि जारी कराने के लिये जो डेपुटेशन सयुक्त-प्रात के छोटे लाट के पास गया था उसमे भी आपने बहुत उद्योग किया था । नागरी-प्रचारिणी सभा मे जब कोई सरकारी अफसर आता था तब उसके लिये आपही कविता में एड्रेस बना कर देते थे। सभा पर इनका इतना स्नेह था कि मरते समय भी ये उसे नही

भूले। अपनी लिखी हुई सब पुस्तकों का स्वत्व सभा के नाम वसीयत कर गए।

बाबू राधाकृष्णदास आजीविका के लिये अपने एक मित्र के साझे में ठीकेदारी का काम करते थे। उधर जो कई एक अच्छी अच्छी इमारतें काशी मे बनी है वे आपही के प्रबंध से बनी है। आपके नाम से चौखंभे मे एक दुकान भी चलती है। आप राधावल्लभीय संप्रदाय के दृढ वैष्णव थे। परतु वास्तव मे किसी मतमतातर से द्वेष नही रखते थे। आप एक बडे सच्चरित्र, शीलवान् और मिलनसार पुरुष थे। क्रोध और कुचाल का तो आपमें लेशमात्र भी न था। सर्व-साधारण मे आपका जैसा आदर था वैसा ही जातिवालों में भी था। काशी के अग्रवाले मात्र आपकी बात मानते थे बरन यो कहना चाहिए कि एक प्रकार से आप अग्रवाल-समाज के चौधरी थे। इनका देहात ४२ वर्ष की अवस्था में तारीख २ अप्रैल सन् १९०७ को हुआ।

बाबू राधाकृष्णदास सदा भारतेंदु जी की चलाई हुई पद्धति पर आँख मूँद कर चलते थे, यहाँ तक कि बहुत दिनो तक उनका पहनावा भी उन्ही के अनुरूप होता था। कोई व्याख्यान वे ऐसा न देते थे जिसमें भारतेंदु जी का येन-केन-प्रकारेण उल्लेख न होता। सच तो यह है कि इनके साथ ही यह पद्धति भी समाप्त हो गई।

(३५) पंडित किशोरीलाल गोस्वामी

जिला मथुरा, इलाका शेरगढ़, परगना छाता के अतर्गत गाँव बसई खुर्द के माफीदार और वृंदावन केशोघाटस्थ श्री ठाकुर अटलविहारी जी के मंदिर के स्वत्वाधिकारी एवं सेवाधिकारी तथा श्रीमद्भगवन्निबार्क-संप्रदायाचार्य्य श्रीस्वयभूदेव जी के वंशधर राजमान्य श्रीमद्गोस्वामी

पडित किशोरीलाल गोस्वामी।

केदारनाथ जी वृंदावन में एक बडे विद्वान् पुरुष हो गए हैं। उन्होंने ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता पर भाष्य तथा श्रीमद्भागवत पर तिलक निर्माण किए हैं।

उक्त गोस्वामी महोदय के पुत्र गोस्वामी वासुदेवलाल जी यद्यपि अपने पिता के समान बहुत बडे विद्वान् नही हुए तो भी बहुत कुछ थे; क्योकि इनकी जीवन-संबंधी घटनाएँ अद्भुत और रहस्यपूर्ण हैं। इनकी प्रथम सहधर्मिणी की अकालमृत्यु हो जाने पर इनका दूसरा विवाह काशी के श्रीगोस्वामी कृष्णचैतन्यदेव जी की कन्या से हुआ, जिनसे हमारे चरितनायक का जन्म संवत् १९२२ माघकृष्ण अमावस्या को हुआ था। आठ वर्ष की अवस्था होने पर आपका यज्ञोपवीत हुआ और उसी समय विद्यारंभ कराया गया। इन्होंने संस्कृत मे व्याकरण, वेदांत, न्याय, सांख्य, योग और ज्योतिष की प्रथम परीक्षा तक के ग्रंथ पढे और साहित्य में आचार्य परीक्षा तक के। इनके पिता कुछ दिनो तक आरे मे रह आए थे। ये भी उन्ही के साथ मे थे। इन्होंने पंडित पीतांबर मिश्र जी तथा रुद्रदत्त जी से व्याकरण आदि कई ग्रंथ पढे थे और आरे मे आर्य्यपुस्तकालय की स्थापना की और सुप्रसिद्ध पंडितवर बालगोविंद त्रिपाठी जी से वर्ण-धर्मोपयोगिनी सभा स्थापित करवाई। ये इन दोनो के मंत्री थे। वहाँ पर इन्होंने कुरमी जाति की वर्णव्यवस्था पर संस्कृत मे एक पुस्तक लिखी थी जो "विज्ञवृंदावन" नामक पत्र में छपा करती थी।

इन्होंने वर्णधर्मोपयोगिनी सभा-द्वारा एक पाठशाला स्थापित करवाई थी और उसी सभा के प्रतिनिधि होकर संवत् १९४७ मे भारतधर्ममहामंडल में सम्मिलित होने के लिए दिल्ली गए। वहाँ से आकर फिर ये काशी में बसने लगे। बाबू हरिश्चंद्र इनके मातामह के साहित्य के शिष्य थे। इस संबंध से उनके यहाँ नकी प्राय अधिक बैठक रहने लगी। और

उन्ही के सत्संग से हिंदी भाषा की ओर रुचि हुई। इसलिए मातामह गोस्वामी कृष्णचैतन्यदेव जी से भाषा-साहित्य तथा पिंगल के ग्रंथ पढकर फिर भारतेंदु बाबू हरिश्चद्र तथा राजा शिवप्रसाद जी की प्रेरणा से गोस्वामी जी ने हिंदी मे पहले-पहल "प्रणयिनीपरिणय" नाम का एक उपन्यास लिखा।

इन्होने कविता, सगीत, जीवनचरित, नाटक, रूपक, योग आदि भिन्न भिन्न विषयो पर कोई डेढ़ सौ पुस्तके लिखी जिनमे से कुछ अपूर्ण रह गई और कुछ प्रकाशित न हो पाई। पहले तो आप स्फुट लेख लिख कर हिंदी-समाचारपत्रो की सहायता करते रहे परंतु सन् १८९८ ई० से आप निज की एक उपन्यास मासिक पुस्तक प्रकाशित करने लगे। तब से आपका स्फुट लेख लिखना बंद हुआ और हिंदी-साहित्य के भाडार में आप उपन्यासो की भरमार करने लगे। इन्होने कोई ६५ उपन्यास लिखे हैं जो नवयुवको को बहुत पसद आते रहे। इनके लिखे पूर्ण अथवा अपूर्ण उपन्यासो की यह सूची है—चपला, तारा, लीलावती, रजियाबेगम, मल्लिका देवी, राजकुमारी, कुसुमकुमारी, तरुणतपस्विनी, हृदयहारिणी, लवगलता, याकूती तख्ती, कटे मूँड की दो-दो बातें, कनककुसुम, सुखशर्वरी, प्रेममयी, गुलबहार, इन्दुमती, लावण्यमयी, प्रणयिनीपरिणय, जिन्दे की लाश, चन्द्रावली, चन्द्रिका, हीराबाई, लखनऊ की कब्र, पुनर्जन्म, त्रिवेणी, माधवीमाधव, राज-राजेश्वरी, जड़ाऊ ककण मे काला भुजग, आरसी मे हीरे की कनी, विहाररहस्य, ठगिनी, भोजपुर की ठगी, जगदीशपुर की गुप्त कथा, राजगृह की सुरग, प्रहसन-पथिक या पथप्रदर्शिनी, कुँवरसिंह, बनारस-रहस्य, हमारी रामकहानी, अँगूठी का नगीना, इसे जिंदा कहे कि मुर्दा, सदासोहागिन, दिल्ली की गुप्त कथा, जनानखाने मे दीपक, प्रेम-परिणाम,

पातालपुरी, दो सौ तीन, औरत मे औरत का ब्याह, रोहितासगढ की रानी, अँधेरी कोठरी, काजी की चीठी, राजकन्या, राक्षसेंद्रराक्षस या घडा भर विष, साँप की वाँवी, सेज पर साँप, इसे चौवराइन कहें कि डाइन, राजबाला, आप आपही हैं, नरक-नसेनी, अँधेरी रात, सोना और सुगध, आदर्श प्रणय, शान्तिनिकेतन, वार-विलासिनी, शांतिकुटीर।

इसके पहले ये समय-समय पर कई एक हिंदी-समाचारपत्रो के सहकारी संपादक रह चुके थे। इन्होने एक उपन्यास, एक चम्पू और तीन काव्य-ग्रथ सस्कृत मे भी रचे थे।

श्रीमती महारानी विक्टोरिया की डायमड जुबिली के समय इन्होने उक्त राजराजेश्वरी का जीवनचरित सस्कृत मे लिख कर वैष्णव-समाज-द्वारा विलायत भेजा था, जिस पर इन्हे होम डिपार्टमेंट से धन्यवाद का परवाना मिला था। सन् १९१३ मे इन्होंने मथुरा में श्रीसुदर्शन प्रेस नाम का अपना प्रेस खोला जिसमे इनकी पुस्तके छपती रही।

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा से इनका घनिष्ठ सवध प्रारभ से ही रहा। वे उसकी सेवा के लिए सदा तत्पर रहते थे। ये साहित्य-सम्मेलन तथा अन्य अनेक सम्मेलनो के सभापति रहे। इनका स्वर्गवास सवत् १९८९ में ६६ वर्ष की अवस्था मे हुआ।

ऐयारी उपन्यासो को छोडकर गोस्वामी जी इस युग के पहले मौलिक उपन्यास-लेखक हैं। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि उपन्यास लिखना ही इन्होने अपने साहित्यिक कार्य का ध्येय वना रक्खा था और इसमे वे पूर्णतया सफल हुए। ऐतिहासिक उपन्यासो मे काल-दोष प्रायः आ गया है। ऐसे उपन्यासो मे आदर्श रूप तो वावू रखालदास वदचोपाध्याय के करुणा, शशाक आदि उपन्यासो के अनुवाद हैं। प्रायः

बँगला के उपन्यासो और नाटको मे यह दोष बहुलता से आ गया है। कदाचित् इसका प्रभाव भी परोक्षरूप से गोस्वामी जी पर पड़ा हो। किसी किसी उपन्यास में वर्णन तथा वार्तालाप अश्लीलता के बहुत निकट पहुँच गए हैं। उच्च वासनाओ का प्रायः अभाव-सा है। यह दोष प्रायः रेनाल्ड्स के अनेक उपन्यासों के समान है। यदि सब बातों पर ध्यान दिया जाय तो गोस्वामी जी के चरित्र की झलक इनमे देख पड़ेगी। इन दोषो के रहते हुए भी यह अवश्य मानना पडेगा कि इनके उपन्यासो मे सामाजिक चित्र, वासनाओ के विविधरूप और मनोहर वर्णनों के साथ ही साथ चरित्र-चित्रण भी थोडा-बहुत पाया जाता है। भाषा इनकी प्रायः पुष्ट, परिमार्जित तथा सरल होती थी; पर जहाँ ये उर्दू की विद्वत्ता दिखाने के फेर मे पड़ गए है वहाँ वे अपने ऊँचे स्थान से बहुत नीचे गिर जाते है। शब्दो के उच्चारण मे अशुद्धियो का तो प्रेस के भूतो की कृपा कहकर मार्जन किया जा सकता है, पर अर्थो का विपर्यय क्षतव्य नही है। अस्तु, यह बात निर्विवाद है कि पडित किशोरीलाल गोस्वामी उत्कृष्ट उपन्यास-लेखक और कवि थे। इनका जीवन साहित्यमय था। शृगार-रस के तो ये साक्षात् मूर्त्ति थे।

(३६) लाला भगवानदीन

लाला भगवानदीन का जन्म फतहपुर जिले के बरबर ग्राम मे श्रावणशुक्ला ६ सवत् १९२३ को हुआ था। ये श्रीवास्तव दूसरे कायस्थ थे। इनके पूर्वज पहले रायबरेली में रहते थे, पर गदर के समय मे वे लोग रामपुर चले गए। इनके पूर्वजो को नवाबी मे बख़्शी का खिताब मिला था।

लाला भगवानदीन ।

ग्यारह वर्ष की अवस्था तक ये अपनी जन्मभूमि बरबर ही में रहे और वहीं इनकी उर्दू और फारसी की आरंभिक शिक्षा हुई। पर उस समय इनकी माता का देहान्त हो जाने के कारण इनके पिता जो बुंदेलखड में नौकर थे आकर इन्हें अपने साथ ले गए। बुंदेलखड मे ये नौगाँव छावनी मे अपने फूफा के पास रहे और वहाँ इनको फारसी की विशेष शिक्षा दी गई। चार वर्ष पीछे ये फिर घर लौट आए और वही दो वर्ष तक मदरसे मे पढते रहे। वहाँ अपने दादा से इन्होने साधारण हिंदी भी पढी। सत्रह वर्ष की अवस्था में ये फतहपुर के हाई स्कूल मे भर्ती किए गए जहाँ इन्होनें सात वर्ष मे एंट्रेंस परीक्षा पास की। इस बीच मे मिडिल पास करने के अनतर इनका विवाह हो गया था, इसलिये गृहस्थी का भी बोझ इन पर आ पडा। तो भी ज्यो-त्यो करके प्रयाग के म्योर सेंट्रल कालेज मे एफ० ए० में भर्ती हुए। उस समय इन्हे कायस्थ-पाठशाला प्रयाग से वृत्ति मिलती थी। इसके अतिरिक्त दो एक जगह प्राइवेट ट्यूशनें भी करनी पडती थी। गृहस्थी के कुल झझट इन्ही के सिर पर थे, इसलिये ये कालेज की परीक्षा मे उत्तीर्ण न हो सके। निदान इन्हे पढ़ना छोड़ना पड़ा और वही कायस्थ-पाठशाला मे ये शिक्षक नियुक्त हो गए तथा डेढ वर्ष तक वहाँ काम करते रहे। इसके पीछे जनाना मिशन गर्ल्स हाईस्कूल मे ये फारसी के शिक्षक हो गए और छ मास तक वहाँ रहे। फिर ये राज्य स्कूल के सेकेंड मास्टर होकर छत्रपुर बुंदेलखड चले गए और सन् १८९४ से १९०७ तक वहीं रहे। सन् १९०७ मे ये काशी के सेंट्रल हिंदू कालेज में उर्दू के टीचर होकर आए। डेढ वर्ष पीछे जब नागरी-प्रचारिणी सभा का कोष बनने लगा तब ये उसी मे आ गए और बराबर उसके सहायक

सपादक रहे। बीच में एक बेर जब कोष-कार्यालय काश्मीर गया था तब ये अलग होकर पहले प्रयाग और फिर गया चले गए थे और कोष-कार्यालय के काशी आने पर पुन: उसी मे सम्मिलित हो गए।

इनके दादा बडे भक्त थे । उनकी आज्ञा के अनुसार ये उन्हे नित्य तुलसीकृत रामायण सुनाया करते थे। वही से इनकी रुचि हिंदी की ओर बढी। १९ वर्ष की अवस्था में ये एक बेर अपने पिता के साथ हरिद्वार गए थे और वहाँ दो मास तक रहे थे। उसी समय में इन्होने "कृष्णचौसठिका" नाम की एक कविता बनाई थी। इसके अनतर वे और भी फुटकर कविता करते थे। छत्रपुर मे ये अवकाश के समय बाबू जगन्नाथप्रसाद की लाइब्रेरी की पुस्तके पढा करते थे। वहाँ इन्होने बुँदेलखंड के प्राचीन कवियो की बहुत-सी कविताएँ पढी। इसके पीछे वही के पडित गंगाधर व्यास से अलकार तथा काव्य के कुछ नियम इन्होने सीखे। तदुपरांत इन्होंने शृगारशतक, शृगारतिलक तथा रामायण के दोहो पर कुडलियो की रचना की। इसके अतिरिक्त छत्रपुर मे इन्होने कविसमाज और काव्यलता नामक दो सभाएँ स्थापित की थी। साथ ही भारतीभवन नामक एक पुस्तकालय भी खोला था। उस समय ये रसिकमित्र, रसिकवाटिका और लक्ष्मीउपदेशलहरी मे फुटकर कविताएँ और लेख भी भेजा करते थे। सन् १९०५ मे लक्ष्मीउपदेशलहरी के संपादक देवरीनिवासी मजुसुशील का देहात हो गया। मरने से पूर्व वे लक्ष्मी के अध्यक्ष को सम्मति दे गए थे कि वे लाला भगवानदीन को ही लक्ष्मी का सपादक बनावे। तदनुसार लक्ष्मी का संपादन-कार्य आपके हाथ मे आया, जिसे इन्होने योग्यतापूर्वक किया। इन्होने भक्तिभवानी नाम की एक कविता लिखी थी जिस पर कलकत्ते की बडी बाजार लाइब्रेरी से न्हे एक

स्वर्णपदक मिला था। "रूस पर जापान क्यो विजयी हुआ ?" शीर्षक निबंध पर इन्हे १००) पुरस्कार मिला था। काशी में आकर इन्होने "धर्म और विज्ञान", "वीरप्रताप," "वीरबालक" और "वीरक्षत्राणी" नामक पुस्तके लिखी। जब ये गया में थे तो इन्होने बहुत-सी पाठ्य पुस्तको की कुजियाँ बनाई थीं।

इसके अनतर इन्होने रामचंद्रिका, कविप्रिया, रसिकप्रिया, कवितावली तथा बिहारीसतसई पर प्रामाणिक टीकाये लिखी और सूरपचरत्न नाम का एक अच्छा सग्रह भी किया था। इसके अतिरिक्त सूक्तिसरोवर नामक एक अच्छा सग्रह भी इन्होने संपादित किया था तथा अलंकारमंजूषा नामक एक ग्रंथ लिखा था जो बहुत दिनो तक कालिजों में पढाया जाता रहा।

जब हिंदू-विश्वविद्यालय में हिंदी-निबंध की पढ़ाई आरभ हुई तब ये पंडित रामचंद्र शुक्ल के साथ वहाँ काम करने लगे और अंत काल तक वही नियत रहे।

इन्होने अपनी पहली स्त्री बुंदेलाबाला को पढा-लिखा कर सुशिक्षिता बनाया था और उसे कविता भी सिखलाई थी। बुंदेलाबाला की कई कविताएँ सामयिक पत्रो मे निकलीं भी थीं। उसका देहांत हो जाने पर छत्रपुर में इन्होने दूसरा विवाह किया था पर काशी आने पर वह स्त्री भी मर गई। सन् १९१२ में इन्होने तीसरा विवाह किया।

लाला भगवानदीन का स्वभाव मिलनसार था। ये इतने परिश्रमी थे कि दिन-दिन भर निरतर काम में लगे रह सकते थे। इनका देहात २८ जुलाई सन् १९३० (संवत् १९८७) को काशी में हुआ।

(३७) रायबहादुर डाक्टर हीरालाल

रायबहादुर डाक्टर हीरालाल के पूर्वज महोबा के समीप सूपा गाँव मे रहते थे। वहाँ से इनके पूर्वपुरुष कालूराम बिलहरी में आ बसे। इनके पुत्र नारायणदास वहाँ से मुड़वार (ज़िला जबलपुर) मे आ गए। ये बड़े रामायणी थे और अर्थ बतलाने की निपुणता के कारण कलवार होते हुए भी 'पाठक' के नाम से प्रसिद्ध हुए। नारायणदास के पुत्र मनबोधराम भी बड़े रामायणी थे। इनके पुत्र ईश्वरदास हुए। इनके दो पुत्र हुए—हीरालाल और गोकुलप्रसाद।

बाबू हीरालाल का जन्म आश्विनशुक्ला ४ संवत् १९२४ को हुआ। पढने-लिखने मे वे बड़े तेज थे। सन् १८८१ में इन्होंने प्रथम श्रेणी मे मिडिल पास किया और एक छात्रवृत्ति पाई। अब ये जबलपुर मे आकर पढ़ने लगे और क्रमश एंट्रेंस और एफ० ए० पास करते हुए सन् १८८८ में बी० ए० की परीक्षा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। अब आप पहले अस्थायी रूप से एक हाई स्कूल मे मास्टर नियत हुए। इसके अनंतर आपको शिक्षको को पदार्थ-विज्ञान पढ़ाने का काम दिया गया। इनकी योग्यता से प्रसन्न होकर, पहले ये डिप्टी इंस्पेक्टर, तब इंस्पेक्टर और थोड़े ही दिनो में छत्तीसगढ कमिश्नरी के इंस्पेक्टर बनाए गए।

सन् १८९९ में ये एक्स्ट्रा असिस्टेंट कमिश्नर बनाकर बालाघाट में अकाल-पीड़ितो की सहायता के लिए भेजे गए। वहाँ इन्होंने बडी लगन से काम किया। सन् १९०१ की मनुष्यगणना के समय ये पहले रायपुर में इस काम को करते रहे। कई भाषाओ के ज्ञाता होने तथा मध्यप्रदेश की भाषाओ, जातियो तथा विविध धर्मों की अभिज्ञता

रायबहादुर डाक्टर हीरालाल।

रहने के कारण आप मनुष्यगणना के असिस्टेंट सुपरिटेंडेंट बनाए गए। यह काम समाप्त होते ही आप बिलासपुर के एक्स्ट्रा असिस्टेंट कमिश्नर बनाए गए। अभी वहाँ थोड़े ही दिन रहे थे कि आपको गजेटियर लिखने का काम सौंपा गया। इस काम को इन्होंने इतनी योग्यता से किया कि गवर्मेंट ने प्रसन्न होकर रायबहादुर की उपाधि दी। सन् १९११ की मनुष्यगणना मे फिर आपकी सेवाओं का उपयोग किया गया। इस प्रकार क्रमश उन्नति करते हुए वे डिप्टी कमिश्नर के पद तक पहुँचे और सन् १९२२ मे आपने पेंशन ली।

पुरातत्त्व-विद्या में आपने अपने अध्यवसाय से बडी योग्यता प्राप्त कर ली थी। इनके अनेक महत्त्वपूर्ण लेख 'एपिग्राफिया इंडिका' मे छपे है। आपने प्राकृत पुस्तकों की बडी एक रिपोर्ट भी गवर्मेंट के लिये तैयार की थी। कलचुरिवंश के इतिहास के विशेष ज्ञाता थे। पटना ओरियंटल कान्फ्रेंस के आप सभापति हुए थे। हिंदी-पुस्तकों की खोज का काम आपने कई वर्षों तक किया और उसकी रिपोर्ट लिखी, जिससे इनकी योग्यता का परिचय मिलता है।

आप सन् १९०२ मे काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के सभासद् बने और क्रमश उसके उपसभापति और सभापति हुए। सन् १९३३ में आपने योरप की यात्रा की। नागपुर-विश्वविद्यालय ने आपको डॉक्टर की उपाधि से विभूषित किया था।

गवर्मेंट के लिये अनेक लेखों, रिपोर्टों तथा पुस्तकों के अतिरिक्त आपने हिंदी में ये पुस्तकें लिखी है—सागरभूगोल, शालाबाग, भौगोलिक नामार्थ परिचय, दमोह-दीपक, जबलपुर-ज्योति, सागर-सरोज, मंडलामयूख, वैराग्यलहरी और मध्यप्रदेश का इतिहास। इसके

अतिरिक्त आपके अनेक लेख हिंदी की कई पत्रिकाओं में समय-समय पर प्रकाशित होते रहे। इनकी बहुत बड़ी संख्या है।

सन् १९३४ मे आप शिमला गए। वहाँ से लौटने पर आपको जीर्णज्वर हो गया। अनेक उपाय किए गए पर रोग शात न हुआ। सी रोग से २० अगस्त सन् १९३४ (सवत् १९९१) को बंबई में आपका देहात हुआ।

आप बड़े मिलनसार और हँसमुख स्वभाव के थे। अभिमान तो आपको छू भी नही गया था। रहन-सहन आपकी बहुत सादी थी। श्री राहुल सांकृत्यायन जी ने लिखा है—"अन्य विषयो के विद्वान् तो आप थे ही, किंतु कलचुरि-इतिहास का ऐसा ज्ञान रखते थे जैसा इस समय तक भारत मे किसी को नही है।" वे इस इतिहास को लिखना चाहते थे, पर कुटिल काल की कृपा से ऐसा न कर सके। हिंदी के विद्वानो मे उनका स्थान बहुत ऊँचा है। इनका एकमात्र व्यसन साहित्य-सेवा और ज्ञान-वर्द्धन था।

(३८) बाबू जगन्नाथदास "रत्नाकर" बी० ए०

बाबू जगन्नाथदास का जन्म काशी मे भादो सुदी ५ संवत् १९२३ को हुआ था। ये दिल्लीवाल अग्रवाले वैश्य थे। इनके पूर्वपुरुषो का आदि-स्थान जिला पानीपत में था। और वे लोग मुगल-राज्य में ऊँचे-ऊँचे सरकारी पदो पर काम करते थे। नके परदादा लाला तुलाराम जहाँदारशाह के दरबार मे रहते थे। वे जहाँदारशाह के साथ ही एक बेर काशी आए और तब से यही रहने लगे।

बाबू जगन्नाथदास के पिता बाबू पुरुषोत्तमदास फारसी भाषा के अच्छे विद्वान् थे। फारसी तथा हिंदी-काव्य से उन्हे बहुत प्रेम था और उनमें

बाबू जगन्नाथदास बी० ए० (रत्नाकर)।

वे अच्छा अधिकार रखते थे। उनके पास प्राय: फारसी और हिंदी के अच्छे-अच्छे कवियो का जमघट रहता था। उन्ही की देखा-देखी हमारे चरितनायक को भी काव्य मे रुचि उत्पन्न हुई और ये उर्दू में शायरी करने और गजलें कहने लगे। धीरे-धीरे इनकी भाषा-सबधी रुचि बदल गई और हिंदी पर इनका अनुराग उत्पन्न हुआ, तब से ये इसी भाषा में कविता करने लगे। आरभ से अत तक इनकी सारी शिक्षा काशी में ही हुई। सन् १८९२ में काशी मे ही इन्होंने बी० ए० की डिग्री प्राप्त की। उस समय इनकी दूसरी भाषा फारसी थी। थोडे दिनो पीछे इन्होंने रियासत आवागढ में नौकरी की। वहाँ ये मुहतमिम खजाना के पद पर नियुक्त हुए। दो वर्ष तक इन्होंने वहाँ योग्यतापूर्वक कार्य किया। पर वहाँ का जल-वायु इनके अनुकूल नही हुआ और वे प्राय अस्वस्थ रहने लगे। इसलिये इन्होने वह पद छोड दिया और काशी चले आए। यहाँ ये बहुत दिनो तक यो ही रहे। इसके अनतर सन् १९०२ ई० में ये स्वर्गीय अयोध्या-नरेश महाराज सर प्रतापनारायणसिंह के प्राइवेट सेक्रेटरी नियुक्त हुए और उनके मृत्युकाल (नवबर सन् १९०६) तक उसी पद पर रहे। श्रीमान् अयोध्या-नरेश का देहात हो जाने पर इनकी योग्यता और कार्यकुशलता से प्रसन्न होकर अयोध्या की महारानी साहिबा ने इन्हें अपना प्राइवेट सेक्रेटरी बना लिया। तब से अत तक ये उसी पद पर रहे और बड़ी योग्यता-पूर्वक अपना कार्य करते रहे। महारानी के अधिकारो के सबध मे दीवानी मुकदमा चला था उसमे इन्होंने बडी योग्यता से महारानी का पक्ष समर्थन किया था। बाबू जगन्नाथदास हिंदी-काव्य-शास्त्र के पूर्ण ज्ञाता और व्रजभाषा के उच्च श्रेणी के कवि थे। ये प्रसिद्धि से बहुत दूर भागते थे, इसलिये कुछ दिनो तक इनकी वास्तविक योग्यता

से बहुत ही परिमित लोग परिचित थे। छदो, चौपाइयो और दोहों के विलक्षण अर्थ करने मे ये बडे ही निपुण थे। इनकी कविता बड़ी ही सरस और भावपूर्ण होती थी और कभी-कभी बड़े-बडे प्राचीन कवियो की कविता से टक्कर लेती थी। स्वभाव के ये बडे ही सरल, मिलनसार और विनोदप्रिय थे। इन्होने हिंडोला, समालोचनादर्श, साहित्यरत्नाकर, घनाक्षरी, नियम-रत्नाकर, हरिश्चद्र, शृगारलहरी, गंगाविष्णुलहरी, रत्नाष्टक, वीराष्टक, गगावतरण, कलकाशी, उद्धव-शतक नामक काव्य-ग्रथो की रचना की है तथा चद्रशेखर के हम्मीरहठ, कृपाराम की हिततरगिणी और दूलह कवि के कंठाभरण का सपादन किया है। इसके अतिरिक्त इन्होने और भी अनेक फुटकर कविताएँ की है। इन्होने कई सहयोगियो के साथ "साहित्यसुधानिधि" नाम का एक मासिकपत्र कई वर्षो तक निकाला था। इसमे प्राचीन तथा नवीन ग्रथ छपते थे। इसमे इनके कुछ काव्य और दोहा-नियम प्रकाशित हुए थे, जिन्हे डाक्टर ग्रियर्सन ने अपनी लालचद्रिका तक में उद्धृत किया था। इनके समस्त काव्य-ग्रथो का सग्रह काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने 'रत्नाकर' नाम से बडी सजधज के साथ प्रकाशित किया है। बिहारी के दोहो का टीका-सहित एक प्रामाणिक सस्करण बिहारी-रत्नाकर नाम से इन्होने सपादित किया था, जिसे गापुस्तकमाला के स्वामी ने प्रकाशित किया है। ये सूरदास के सागर को एक प्रामाणिक सस्करण के सपादित करने मे लगे हुए थे, पर दुख की बात है कि वह उनके जीवन मे पूरा न हो सका। इनके पुत्र ने उनकी हिंदी पुस्तको का सग्रह तथा सूरसागर की सब सामग्री काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा को इस निमित्त दी कि वह पुस्तको की रक्षा करे और सूरसागर को प्रकाशित करे। रत्नाकर जी की पद्धति के अनुसार समस्त सूरसागर

पं० शिवनाथजी शर्मा ।

का सपादन हो चुका है पर उसका बहुत थोडा अंश अब तक प्रकाशित हो पाया है। सभा के वर्तमान कार्यकर्त्ताओ का ध्यान इधर साहित्य की वृद्धि और सरक्षण पर उतना नही है जितना हिंदी के प्रचार की ओर है। यही मुख्य कारण समस्त सूरसागर के अब तक प्रकाशित न होने का जान पडता है।

रत्नाकर जी प्राचीन लिपियो के पढ़ने मे निपुण थे। इस संबंध में उनके दो लेख प्रकाशित हुए हैं—एक का संबंध पुष्यमित्र से और दूसरे का समुद्र गुप्त से है। 'बिहारी-रत्नाकर' में उन्होने बिहारी का विस्तृत विवरण भी दिया है।

रत्नाकर जी सूरसागर के सपादन मे लगे हुए थे कि उन्हे सहसा हरिद्वार से मसूरी जाने की आवश्यकता हुई। वे काम बंद कर जानेवाले ही थे कि सहसा हृदय की गति रुक जाने से २२ जून सन् १९३२ ई० को उनका देहावसान हो गया।

आधुनिक युग में रत्नाकर जी व्रजभाषा के प्रमुख कवि थे। उनकी कविता मे ओज और अनुप्रास की भरपूर मात्रा रहती थी। उनका कविता पढने का ढग भी बडा मनोहर और प्रभावोत्पादक होता था। कविता करने मे वे पद्माकर की टक्कर लेते थे। उनका रहन-सहन बहुत सादा था। वे हँसमुख और सरल प्रकृति के थे। मित्र-समागम से वे बडे प्रसन्न होते थे और आदर-सत्कार मे कोई त्रुटि न होने देते थे। वास्तव मे वे हिंदी-काव्य-जगत् के एक उज्ज्वल रत्न थे।

(३९) पंडित शिवनाथ शर्मा

पंडित शिवनाथ शर्म्मा का जन्म काशी में, फाल्गुन बदी ११, सवत् १९२४ को हुआ था। आपके पिता पडित दामोदर जी शर्म्मा

थे। आप सारस्वत ब्राह्मण थे। आपके पिता वेदपाठी और कर्मकाडी थे। ज्योतिष-शास्त्र भी अच्छा जानते थे।

शिवनाथ जी ने प्रारंभ मे गुरु जी के यहाँ साधारण हिसाब-किताब की शिक्षा पाई। उसके पीछे लखनऊ के स्वनामधन्य, विद्वद्वर, स्वर्गीय पंडित ज्ञानेश्वर जी से आपने संस्कृत का अध्ययन किया। फिर लखनऊ के कैनिंग कालेज में आप अँगरेजी की शिक्षा पाते रहे और वहीं आपने बी० ए० तक पढ़ा। आपको विद्याध्ययन का व्यसन बराबर रहा और वह मृत्यु के पहले तक चलता रहा। संस्कृत के षट्काव्यो का आपने अच्छी तरह अनुशीलन किया था, तथा ज्योतिष-शास्त्र भी आप जानते थे। आपको संस्कृत-साहित्य से विशेष प्रेम था और आप बडे अच्छे कर्मकाडी थे। अँगरेजी के प्रायः सभी प्रधान और प्रसिद्ध कवियो की रचनाएँ आपने पढ़ी थी। उनमें शेक्सपियर, मिलटन और बायरन के आप विशेष भक्त थे। आप उर्दू, फारसी भी जानते थे और उन भाषाओ के कवियो की रचनाएँ भी आपने अच्छी तरह पढी थी।

हिंदी लिखने का आपको लड़कपन ही से शौक रहा। कालेज मे भरती होने के पहले ही आपने 'रसिकपंच' नाम का एक हिंदी-पत्र निकाला था। पर वह दो वर्ष निकलकर बद हो गया। इसके अनतर कलकत्ते के पंडित सदानंद जी मिश्र के संपादकत्व मे निकलनेवाले साप्ताहिक पत्र 'सार-सुधा-निधि' में आप लिखने लगे, उसमे 'चाटु-वार्ता' शीर्षक से आपके हास्य-रस के लेख निकलते थे। उस समय उन लेखो की बडी धूम थी। लोग उन्हें बड़ी रुचि एव आग्रह से पढ़ा करते थे। 'उचित वक्ता' और 'भारतमित्र' मे भी आपके हास्य-रस के लेख समय-समय पर छपते रहते थे।

सन् १९०१ में, बूर-युद्ध के समय, 'गोपालपत्रिका' नामक हिंदी-पत्रिका का आपने सपादन किया। इसके अनतर 'वसुंधरा' नाम की मासिक पत्रिका लखनऊ से निकाली। सन् १९०५ ई० में आपने अपने दामोदर-प्रेस से 'आनंद-पत्र' (साप्ताहिक) निकाला और लगभग १९०५ से उसको दैनिक कर दिया। समें 'मिस्टर व्यास की कथा' शीर्षक से आपके हास्य-रस के लेख बराबर निकला करते थे। उन्ही में से चुने हुए सौ लेखो का संग्रह करके गगा-पुस्तकमाला ने ४१६ पृष्ठों की एक पुस्तक प्रकाशित की है।

आपने बहुत दिनो तक श्री अवध गोशाला लखनऊ, के प्रधान मत्री का कार्य किया। आपके समय में गोशाला की बडी उन्नति हुई। आपकी गो-सेवा की प्रशसा श्रीमान् ११०८ श्री शकराचार्य (गोवर्धन मठ) ने की थी और पडित जी को 'गो-सेवा-धुरंधर' की उपाधि दी थी।

पंडित जी हास्य-रस के ही नही, राजनीति के भी उद्भट लेखक थे। जिन लोगो ने आपके ऐसे लेखो को पढा है, वे जान सकते है कि आप किस योग्यता से अपने पक्ष का प्रतिपादन करते थे। आप नरमदल की राजनीति के अनुयायी थे, पर समय-समय पर सरकार की खरी और तीव्र आलोचना करने मे भी आप पीछे नही रहे। आप कवि भी बड़े अच्छे थे।

पडित जी एक सुयोग्य अध्यापक भी थे। लखनऊ की खत्री पाठशाला के आप हेड मास्टर थे और उसके बाद कालीचरण हाई स्कूल मे बहुत दिनो तक अध्यापक रहे। सन् १९२० से आपने अवकाश ग्रहण कर लिया था।

लखनऊ के चतुर्थ हिंदी-साहित्य-सम्मेलन की सफलता का श्रेय बहुत कुछ आपको ही है । सम्मेलन के दिनों में जिन प्रतिनिधियों ने आपके परिश्रम और आतिथ्यसत्कार को देखा है, वे इसे खूब जानते है।

पडित जी ने हास्य-रस की कई पुस्तके लिखी हैं। आपकी नागरी-निरादर, मानवी-कमीशन, दरबारीलाल, नवीन बाबू, बहसी पडित, चडूलदास, शिक्षा-रहस्य आदि हास्यरस की पुस्तके पढने ही योग्य हैं। इनके अतिरिक्त आपने मृगाकलेखा और गदर का फूल ये दो उपन्यास भी लिखे हैं। अवाक् वार्तालाप नाम की आपकी रचना अभी प्रकाशित नही हुई । अभी थोडे ही दिन हुए आपने 'प्रयोग पारिजात' नाम की एक बहुत उपयोगी पुस्तक लिखी थी । इसमें पद्यो मे हिंदी के मुहावरो का प्रयोग किया गया है । एक ग्रंथ 'काव्यलतिका' भी आपने लिखा था । ये रचनाएँ अभी अप्रकाशित हैं । शेक्सपियर के कुछ नाटको का भी आपने हिंदी-अनुवाद किया था।

पंडित शिवनाथ जी हिंदी के पुराने लेखको मे थे। हास्य-रस के तो आप आचार्य ही माने जाते थे। आप बडे ही मिलनसार, हँसमुख, मुँहफट, निर्भय, धर्मभीरु और सज्जन थे।

सवत् १९८४ में आपको कलकत्ते मे पक्षाघात की बीमारी हुई । इस बार दाहने अग पर आघात हुआ था । डाक्टरो के इलाज से कुछ कुछ चलने लगे थे; पर लखनऊ आकर बाये अंग पर फिर दूसरा दौरा हुआ। इस बार भी आप अच्छे होने लगे थे । परंतु आषाढशुक्ला २ संवत् १९८५ को इसी रोग मे आपका शरीरपात हुआ।

(४०) राय देवीप्रसाद पूर्ण

राय देवीप्रसाद के पूर्वज कानपुर की घाटमपुर तहसील के भदाम गाँव के रहनेवाले थे। यहाँ कई सौ वर्ष पूर्व विप्रदास नाम के एक श्रीवास्तव खरे कायस्थ सज्जन चकलेदार नियत थे। आपकी सेवा से प्रसन्न होकर तत्कालीन मुसलमान बादशाह ने ८४ गाँव का नानकार और ३,०००) वार्षिक वेतन बाँध दिया था। कई पीढी पीछे मुशी सोहनलाल हुए जिनके तीन पुत्रो में से सबसे छोटे राय रामगुलाम के चार पुत्र हुए जिनमे तृतीय पुत्र राय वशीधर हुए। इनके पुत्र हमारे चरितनायक राय देवीप्रसाद हुए।

सन् १८५७ के बलवे मे राय रामगुलाम ने कुछ अँगरेजो और मेमो को अपने घर पर आश्रय दिया था जिससे बागियो ने इनका घर-बार लूट लिया और न्हे भागकर जबलपुर में राय वशीधर का आश्रय लेना पडा। यही राय देवीप्रसाद का जन्म मार्गशीर्षकृष्ण १३ सवत् १९२५ को हुआ था। लडकपन में ही पिता का स्वर्गवास हो जाने के कारण इनके चाचा राय लीलाधर ने इनका लालन-पालन किया और पढाया-लिखाया। इसी से इनकी शिक्षा मध्यप्रदेश मे हुई। जहाँ से इन्होने बी० ए० पास किया और फिर वकालत की एल-एल० बी० परीक्षा में सफल होने पर कुछ दिन जबलपुर मे वकालत की और तब कानपुर में आ बसे। यहाँ इन्हे वकालत मे अच्छी सफलता मिली। इनका दीवानी कानून का ज्ञान बहुत बढा-चढा था अतएव ये विशेषकर दीवानी मुकदमो को अपने हाथ में लेते थे। कई बडे टेढे मुकदमो को इन्होने जीता था। इससे इनकी विशेष प्रसिद्धि हुई और जनता मे इनका मान बढा। ये सार्वजनिक कामो में

बड़े उत्साह के साथ बराबर भाग लेते थे। कानपुर में कोई ऐसा बड़ा सार्वजनिक आयोजन न होता था जिसके ये प्रमुख कार्यकर्ता न होते थे।

इन्होंने संस्कृत का अध्ययन किया था। वेदांत के अध्ययन में आपकी विशेष अभिरुचि थी। हिंदी कविता का आपने अच्छा अध्ययन किया था और वे बहुत शीघ्र सुन्दर कविता कर लेते थे। ये सिद्धहस्त कवि और साहित्य के ज्ञाता थे। इस संबंध में इनके यहाँ प्रति-सप्ताह कवियों का समाज लगता था। इसी संबंध में इन्होंने रसिकवाटिका नाम की मासिक पत्रिका निकाली थी। फुटकर कविताओं के अतिरिक्त इनके दो ग्रंथ हिंदी-जगत् में प्रसिद्ध है—एक तो चंद्रकला भानुकुमार नाटक और दूसरा धाराधर-धावन। नाटक में अभिनयात्मक गुणों का अभाव होने के कारण उसका विशेष प्रचार न हो सका। पर उसकी भाषा बड़ी ही ललित और अलंकृत है और बीच-बीच में मधुर पद्यों ने उसे साहित्य का एक अमूल्य रत्न बना दिया है। इस नाटक का आरंभ जबलपुर में हुआ था, पर वह पूरा हुआ कानपुर में। धाराधरधावन कालिदास के मेघदूत का अनुवाद है। यह अनुवाद बड़ा ही सुन्दर हुआ है। इससे इनके साहित्य-ज्ञान तथा ब्रजभाषा पर विशेष अधिकार का परिचय मिलता है। इनकी अनुप्रास-प्रियता तो इसके नामकरण से ही स्पष्ट है।

ये बड़े धर्म्मभीरु पुरुष थे। सनातनधर्म में इनकी विशेष निष्ठा थी। इसी के प्रचार और समर्थन के निमित्त इन्होंने एक संस्था भी स्थापित कर रक्खी थी और धर्मकुसुमाकर नामक एक मासिक पत्र भी निकालते थे। ये थिओसाफिकल सुसाइटी के सदस्य भी थे।
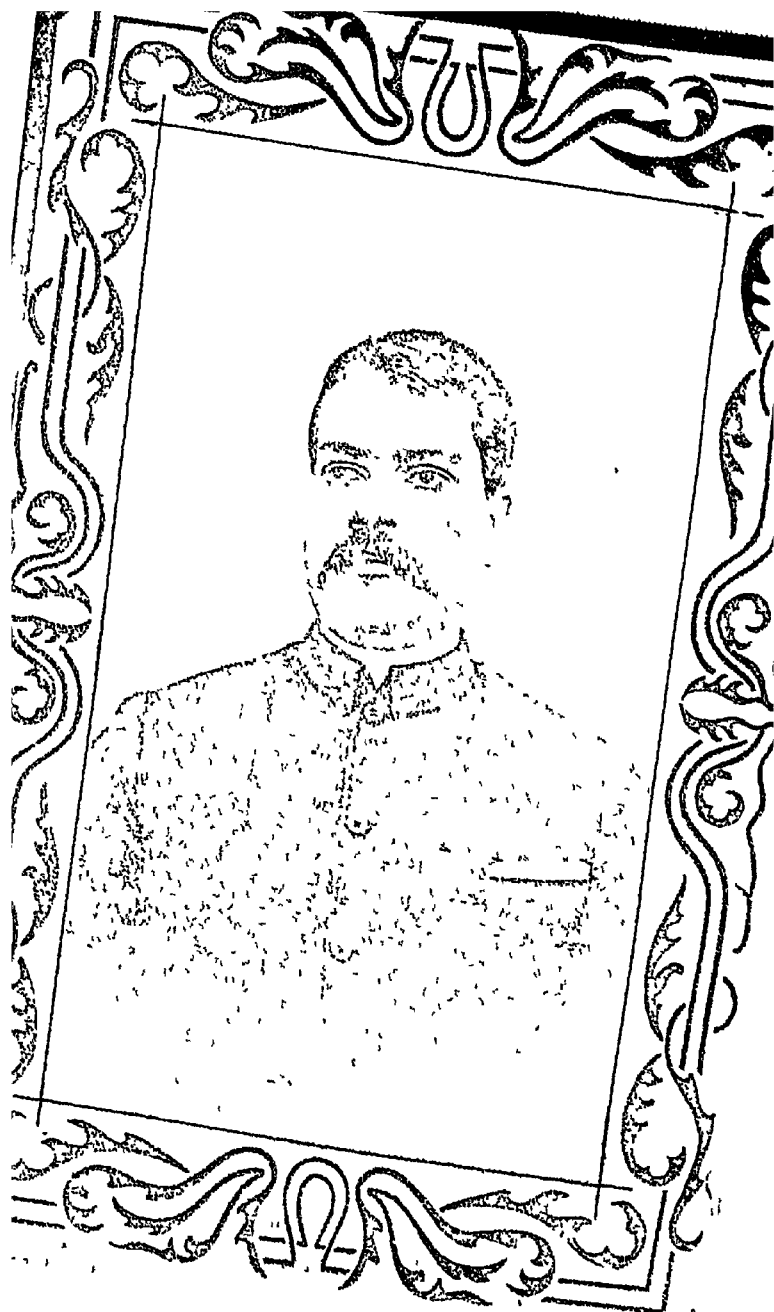
ये वक्तृता देने मे बडे पटु थे । ये समय-समय पर हास्य-रस-पूर्ण पर तर्क-संगत और युक्तियुक्त वक्तृता देकर श्रोताओ को मुग्ध कर लेते थे। ये बडे ही सरल स्वभाव के प्रेमी जन थे । आपका देहात ३० जून सन् १९१५ को कानपुर में हुआ।

(४१) ठाकुर गदाधरसिंह

ठाकुर गदाधरसिंह का सबध चदेरी-कन्नौज-राजवश से था । ये चदेल क्षत्रिय थे । जब मुगलो ने आगरे को राजधानी बनाया तब इनके पूर्व-पुरुष कन्नौज छोडकर शिवराजपुर आ बसे । शिवराजपुर से यथासमय तीन राजकुमार गगागज, सचेंडी और बेनौर आ बसे। सचेंडी कानपुर से १३-मील कालपी की सडक पर है । यहाँ पर उन लोगो ने एक किला बनवाया जिसके खँडहर अब तक वर्तमान हैं । सचेंडी शतचडी का अप-भ्रश है । इनके पूर्वपुरुषो ने यहाँ सौ बेर चडी की आराधना की थी इसी से यह नाम पडा । इनके पूर्वपुरुषो का पेशा सिपाहगरी था। ये लोग पहले सवारी मनसबदार थे । अब अँगरेजी सैनिक सेवा मे ठाकुर साहब तीसरी पीढी मे थे । इनके पिता का नाम ठाकुर दरियावसिह सर्दारबहादुर था । ये बगाल की पाँचवी नेटिव इफैंट्री मे सूबेदार थे। सन् १८३४ ई० मे ये सेना मे भरती हुए और १८७८ मे पेंशन ली । इस ४४ वर्ष की सेवा मे इन्होंने काबुल, कधार, मुदकी, गजनी, फीरोजशहर, सुबराँव, सौताल आदि लडाइयो मे काम किया। सन् ५७ के बलवे के समय ये घर पर छुट्टी लेकर आए हुए थे । अपनी सरकार पर आपदा देख कर घर पर न रह सके । चट अपनी पल्टन को लौट गए । इस समय इनको बागी होने के अनेक प्रलोभन दिए गए, पर ये अपने स्वामिव्रत पर दृढ रहे । सन् १८६९ ईसवी में इनकी

पल्टन बनारस मे थी। वही उस वर्ष के अक्टूबर मास मे ठाकुर गदाधरसिंह का जन्म हुआ। यद्यपि इनके पिता वैष्णव और कृष्णोपासक थे परतु उस समय स्वामी दयानद सरस्वती की पुस्तके इनके हाथो लग गई थी और वे उन्हे बडे अनुराग से पढते थे। इसका प्रभाव बालक गदाधरसिंह पर बहुत पडा। इनकी माता भी लिखी-पढी थी। बाल्यावस्था मे शिक्षा घर ही पर माता तथा एक मास्टर-द्वारा हुई। इन मास्टर साहब को तुलसीकृत रामायण पढने का बडा अनुराग था। बालक गदाधरसिंह भी दो घंटे इनके साथ रामायण पढते। पिता की इच्छा थी कि हमारा पुत्र सिपाही हो। अतएव १७ वर्ष की अवस्था मे एंट्रेस तक पढकर ठाकुर गदाधरसिंह अपने पिता की पल्टन मे भरती हो गए। सेवा के पहले वर्ष (१८८८ ई०) मे ये ब्रह्मा की लडाई पर गए। वहाँ इन्होने सेना-सबधी सब प्रकार का काम किया। वहाँ से लौटने पर ये अपनी सेना के दफ्तर मे काम करने लगे। सन् १८९४ ईसवी मे जब बंगाल की पल्टनो में जातनामा हुआ तब ये सोलहवी राजपूत पल्टन मे बदल गए और वहाँ स्कूलमास्टरी का काम करने लगे। सन् १८९६ ईसवी मे ये सातवी राजपूत पल्टन मे बदल गए।

सन् १९००-०१ मे अपनी पल्टन के साथ चीन की लडाई पर गए जिसका मनोहर वर्णन इन्होने अपनी "चीन मे तेरह मास" नाम की पुस्तक मे किया है। फिर महाराज एडवर्ड के तिलकोत्सव के समय इन्हे इँगलैंड जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस यात्रा का वर्णन इन्होने "हमारी एडवर्ड तिलक-यात्रा" नाम की पुस्तक मे किया है। सेना-विभाग मे २० वर्ष सेवा करके इन्होने अनएटाचर्डलिस्ट मे तबदीली करा ली और तब सयुक्त-प्रदेश के डाक-विभाग मे काम करने लगे।

पंडित गंगाप्रसाद अग्निहोत्री

सेना मे इनका पद सूबेदार का था। इनका देहात २५ अक्टूबर सन् १९२० को हुआ।

स्वामी दयानद सरस्वती के ग्रथो को इन्होने खूब पढा था और उनके अनुयायी थे। इनकी दो बहिने हैं। वे भी पढी-लिखी है। बडी बहन ने तो अनेक वर्षो तक "वनिताहितैषी" नाम का मासिक पत्र निकाला था।

ठाकुर गदाधरसिह का तीसरा ग्रथ रूस-जापान-युद्ध पर है जो दो भागो मे छपा है। इनके ग्रथो मे एक विशेषता है। वे बडे ही मनोरजक और उत्साह-वर्द्धक है और जगह-जगह पर मीठी चुटकियाँ लेना तो मानो इन्ही के हिस्से में था। आधुनिक काल मे यात्रा-सबधी पुस्तको के लेखको मे ठाकुर साहब का प्रमुख स्थान है। ऐसा मनोहर यात्रावर्णन अभी तक नही लिखा गया है।

आपका स्वभाव बडा ही मिलनसार और नम्र था और देश-सेवा का रग तो मानो नस-नस में भरा हुआ था।

(४२) पंडित गंगाप्रसाद अग्निहोत्री

पडित गगाप्रसाद अग्निहोत्री के पूर्वज रायबरेली जिले के चन्हात्तर नामक ग्राम के निवासी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनके पितामह का मध्यप्रदेश से कुछ व्यावसायिक सबध हो गया था इसलिये ये लोग वही रहते थे। बीच-बीच में आवश्यकता पडने पर स्वदेश भी आ जाया करते थे। इनके पिता पडित लक्ष्मणप्रसाद जी अग्निहोत्री नागपुर मे रेशमी कपडो का व्यवसाय करते थे जिसमे उन्होने अच्छा धनोपार्जन भी किया था। उनके दो विवाह हुए थे। पहली स्त्री से दो पुत्र तथा दूसरी स्त्री से तीन पुत्र और तीन कन्याएँ हुई। पडित

लक्ष्मणप्रसाद विद्वान् तो नही, पर भगवद्भक्त बहुत थे। सन् १८५७ के गदर के समय जब ये एक बेर सपरिवार बैलगाड़ी पर स्वदेश जा रहे थे तब मार्ग में सरकारी कर्मचारियो ने इन्हे बागी समझकर पकड़ लिया था पर अत में उनकी भगवद्भक्ति के कारण ही उनको निर्दोष समझकर छोड दिया और ऐसा प्रवन्ध कर दिया जिसमें फिर उन्हें वैसा कष्ट न हो।

पंडित गंगाप्रसाद अग्निहोत्री का जन्म नागपुर मे संवत् १९२७ की श्रावणकृष्णा ७ को हुआ। ९ वर्ष की अवस्था में इनकी माता का देहात हो गया। उस समय इनका तथा इनके एक छोटे भाई और वहन का पालन-पोषण इनकी फुफेरी भावज ने किया। ७ वर्ष की अवस्था में ये नागपुर में एक पुराने ढग की पाठशाला मे बैठाए गए थे जहाँ न्होने गिनती और नागरी-लिपि सीखी। वहाँ की शिक्षा समाप्त होने पर मराठी शिक्षा के लिये ये दूसरी पाठशाला मे बैठाए गए। पहले-पहल तो इनके सहपाठी इनके पढने की हँसी उड़ाते थे पर थोडे ही दिनो में ये उन्ही लोगो के शिक्षक बन गए। उस समय अंकगणित में ये बहुत प्रवीण थे किंतु इनकी शिक्षा का यथोचित प्रबंध नही किया गया। उसी समय ये बहुत बीमार पड गए और जब कई मास पीछे अच्छे हुए तो पिता जी ने इन्हें अपनी दूकान पर वही-खाता लिखने के लिये बैठा लिया। बही लिखने और व्याज फैलाने के काम मे भी ये बहुत चतुर थे। उस समय इनके पिता ने अपने एक मित्र की सम्मति से अँगरेजी पढने के लिये मिशन स्कूल में इन्हे भर्ती करा दिया, जहाँ इन्होंने अपर प्राइमरी तक की शिक्षा समाप्त की। इसके अनंतर एक दूसरे मिशन स्कूल में सन् १८८८ मे इन्होंने मिडिल पास किया। उस समय इनकी दूसरी भाषा मराठी

थी। एंट्रेस मे पहुँचकर इन्होने दूसरी भाषा सस्कृत ली, उसी समय इन्होने अपने मुहल्ले के दो पडितो से लघुकौमुदी और रघुवश का अध्ययन किया। उन दिनो स्कूल मे प्रकाड पडित लिंगाराजेश्वर बी० ए०, बी० एल०, एक्स्ट्रा असिस्टेट कमिश्नर और खाँसाहब अब्दुलअजीज खाँ, बी० ए०, ओरिएटल ट्रासलेटर इनके सहपाठी और स्नेही थे। अस्तु, ये एंट्रेस परीक्षा मे उत्तीर्ण न हो सके। इधर इनके पिता का कारबार भी कुछ मदा पड गया। बस इनकी शिक्षा यही समाप्त हो गई।

सन् १८९२ मे ये वर्धा गए और बाबू जगन्नाथप्रसाद तत्कालीन असिस्टेंट सेटिलमेंट आफिसर से मिले। वहाँ इन्हे नकलनवीस की जगह मिल गई, साथ ही बाबूसाहब ने इन्हे अपने पुस्तकालय की पुस्तके देखने को भी आज्ञा दे दी। वही से इनके हिंदी-अभ्यास की वृद्धि हुई। वहाँ उन्होने उक्त बाबूसाहब को छन्द प्रभाकर के सशोधन मे भी अच्छी सहायता दी थी। उस सबध मे इन्हे प्राय. छः मास तक काशी के भारतजीवन यत्रालय मे रहना पडा था। भारत-जीवन के तत्कालीन सपादक बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री के परामर्श से इन्होने नागपुर लौटकर चिपलूणकर शास्त्री की निबधमाला मे से समालोचना शीर्षक निबध का अनुवाद करके नागरी-प्रचारिणी पत्रिका के पहले वर्ष के पहले अक मे छपवाया। इसके अनतर इन्होने शास्त्री जी के अन्य निबधो का भी अनुवाद कर डाला। उसी अवसर पर इन्होने प्रणयीमाधव का भी अनुवाद किया। सन् १८९४ के आरभ मे इन्हें जूनियर चेकर का पद मिला। सन् १८९५ मे इन्होने मराठी के राष्ट्रभाषा नामक लेख का हिंदी-अनुवाद किया। इसके पीछे आपने और भी अनेक ग्रथ लिखे और अनुवाद किए जिनमे

से संस्कृत कविपंचक, मेघदूत, निबंधमालादर्श, डाक्टर जानसॅन की जीवनी (अप्रकाशित) और नर्मदाविहार मुख्य हैं। इनकी अधिकांश पुस्तकों की हिंदी के अच्छे अच्छे विद्वानो ने सराहना की है। प्रयाग मे द्वितीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर भी इन्होंने "मध्य-प्रदेश मे हिंदी की अवस्था" शीर्षक एक लेख भेजा था।

इनका विवाह संवत् १९४४ में हुआ था। इनकी पहली स्त्री शिक्षिता थी। उससे इन्हें एक पुत्र उत्पन्न हुआ। संवत् १९५५ में उस स्त्री का देहांत हो गया। उसके तीन वर्ष अनतर इनके प्रथम पुत्र की भी मृत्यु हो गई। संवत् १९५७ मे इनके पिता ने इनका दूसरा विवाह कर दिया था। दूसरी स्त्री से भी न्हें एक पुत्र और एक कन्या हुई किंतु वह भी एक वर्ष से अधिक न ठहरी।

सन् १९०८ में ये मध्यप्रदेश की सरकार की ओर से छुई-खदान रियासत का प्रबंध करने के लिये भेजे गए थे। वहाँ इन्होने अच्छी योग्यता से काम किया। जून सन् १९१२ से ये कोरिया रियासत के असिस्टेंट सुपरिंटेंडेंट या नायब दीवान बनाए गए। इस प्रकार अनेक स्थानो में सेवा कर इन्होने अंत में गोवंश के रक्षण और पालन की ओर ध्यान दिया। इनका देहात संवत् १९८८ में हुआ। आपने कविपंचक के अनुवाद को हिंदी में प्रकाशित करके उस प्रकार की समालोचना का पथप्रदर्शन किया है।

(४३) पंडित माधवराव सप्रे, बी० ए०

अपनी मातृभाषा से प्रेम रखना और उसकी उन्नति के लिये प्रयत्न करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। जो लोग किसी प्रकार अपनी मातृभाषा की सेवा करते हैं वे मानो अपना कर्तव्य-पालन करते हैं, पर जो

पंडित माधवराव सप्रे, बी० ए०।

लोग अपनी मातृभाषा के साथ ही साथ अन्य भाषा की सेवा करते हैं और सदा उसकी उन्नति में दत्तचित्त रहते हैं, वे अवश्य ही धन्य हैं और उस भाषा के सेवियो के धन्यवाद के पात्र है। पडित माधवराव सप्रे की गणना ऐसे ही सज्जनो में है।

पडित माधवराव सप्रे का जन्म मध्यप्रदेश के दमोह जिले मे हट्टा नामक एक तहसील के अतर्गत पथरिया गाँव में १९ जून सन् १८७१ को हुआ था। आपके पिता का नाम कोडेश्वर तथा माता का नाम लक्ष्मीबाई था। आपके चार बडे भाई और तीन बहिनें थी। उनमें से तीन भाइयो और दो बहिनो का देहात हो गया है।

सप्रे जी चार वर्ष की अवस्था मे अपने माता-पिता के साथ अपनी मातृभूमि को छोडकर बिलासपुर (मध्य प्रदेश) आए थे। वही उनकी हिंदी की शिक्षा आरभ हुई। आठ-नौ वर्ष की अवस्था मे उनके पिता का देहात हो गया। सन् १८८७ ई० मे अँगरेजी पढने के लिये ये स्कूल में भरती किए गए। कुछ समय पीछे इन्होने मिडिल पास करके छात्र-वृत्ति प्राप्त की। इसके अनतर रायपुर के हाई स्कूल में ये पढने लगे। उस समय श्रीयुत रामराव राजाराम चिंचोलकर इनके सहपाठी और परममित्र थे। उद्यानमालिनी, शकुतला, उत्तररामचरित आदि के कर्ता पडित नदलाल दूबे और मराठी "काव्यसग्रह" के सपादक श्रीयुत वामन दाजी ओक इनके शिक्षक थे और उन्ही लोगो के ससर्ग से इनके हृदय मे भी साहित्य-प्रेम उत्पन्न हुआ। सन् १८८९ ई० मे इनका विवाह हुआ। दूसरे वर्ष इन्होने एट्रेस परीक्षा पास की और छात्रवृत्ति प्राप्त करके ये जबलपुर कालेज मे पढने लगे। इसी वर्ष इनकी माता का देहात हो गया। उस समय ये स्वय भी बहुत बीमार पडे और इसी कारण कुछ काल तक पढना-लिखना भी छूट गया। अच्छे होने पर ये अपने बडे भाई

पंडित बापूराव के पास, जो पेंडरा मे तहसीलदार थे, चले गए और पब्लिक वर्क्स तथा रेलवे मे ठेकेदारी का काम करने लगे। पर यह काम इनकी रुचि के अनुकूल न था इससे इन्हे उसमे हानि हुई। इस काम को छोडकर जुलाई सन् १८९४ में ये लश्कर (ग्वालियर) में एफ० ए० क्लास मे भरती हो गए। एफ० ए० पास करने के अनतर इन्हे अपनी स्त्री की रुग्णता के कारण काकेर जाना पडा। यहाँ से ये नागपुर गए और वहाँ बी० ए० क्लास में भरती हो गए। सन् १८९७ में इनकी स्त्री का देहात हो गया। दूसरे वर्ष इन्होने बी० ए० की परीक्षा पास की। बस यही अपनी पढाई समाप्त कर सप्रे जी हिंदी की ओर झुके और उसके अच्छे-अच्छे ग्रथ पढने लगे। उसी वर्ष इनका दूसरा विवाह हो गया और कुछ दिनो पीछे ये पेंडरा के राजकुमार के शिक्षक नियुक्त हो गए। सन् १९०० मे वही से इन्होने "छत्तीसगढ़ मित्र" नामक मासिक पत्र निकालना आरभ किया। लगभग तीन वर्षों तक यह अच्छी तरह चलता रहा, पर अत मे अर्थाभाव के कारण बद हो गया। 'मित्र' ने पुस्तको की समालोचना करने मे अच्छा नाम पाया था। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा का पहला डेपुटेशन जब सभाभवन के लिये रुपया इकट्ठा करने के उद्देश्य से निकला था तब ये भी अपने मित्र पडित रमराव राजाराम चिंचोलकर के साथ ही सयुक्त-प्रदेश के कई स्थानो में घूमे थे। इस डेपुटेशन ने धन एकत्र करने मे अच्छी सफलता प्राप्त की थी। जब काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा "वैज्ञानिक कोष" के बनवाने मे लगी हुई थी उस समय सप्रे जी ने अर्थ-शास्त्र के शब्दो का सग्रह उसके लिये किया था तथा "वैज्ञानिक कोष" के सबध मे बडे बडे विद्वानो की सम्मति और सहायता प्राप्त करने के लिये पूना और बबई गए थे।

सन् १९०९ ई० मे सप्रे जी नागपुर के देशसेवक प्रेस के मैनेजर नियत हुए। उस समय इन्होने "हिंदी-ग्रथ-माला" का प्रकाशन आरभ किया। इस माला में स्वाधीनता, महारानी लक्ष्मीबाई, स्वदेशी आदोलन और बायकाट, निबधसग्रह, शिक्षा आदि बहुत ही उत्तम और समयोचित ग्रथ निकले थे। उस समय इन्होने अपने कई मित्रो की सहायता से पडित बाल गगाधर तिलक के "केसरी" पत्र का भाषातर साप्ताहिक "हिंदी-केसरी" निकालना आरभ किया। हिंदी-केसरी निकलने के कुछ काल पीछे ग्रथमाला बद हो गई। हिंदी-केसरी प्रारभ से ही बडी घूम-धाम से निकला और खूब चल पडा, पर थोडे ही दिनो मे उसे ब्रिटिश सरकार का कोपभाजन बनना पड़ा। केसरी पर मुकदमा चला, सप्रे जी पकडे गए और कई मासो तक घोर आपत्ति झेलते रहे। अंत में कई मित्रो के अनुरोध से इन्होने सरकार से क्षमा माँग ली और पत्र निकालना बद कर दिया। इस दुर्घटना से सप्रे जी का मन बहुत खिन्न हो गया। अत मे एक ससार-त्यागी महात्मा की कृपा से इन्हे शाति मिली। तब से एक प्रकार से ससार से अलग हो ये रायपुर मे एकातवास करते रहे। पर इस अवस्था मे भी हिंदी को नही भूले वरन उसकी सेवा में लगे रहे। इन्होने हिंदी-दास-बोध, रामदास स्वामी की जीवनी, आत्मविद्या, एकनाथ-चरित्र, भारतीय युद्ध, गीतारहस्य आदि अनेक ग्रथ लिखे है जिनमे से कुछ प्रकाशित भी हो चुके है। सप्रे जी प्राय. मासिक पत्रो मे लेख लिखते रहे। इसके अतिरिक्त ये रायपुर के कई सार्वजनिक कार्यो मे भी योग देते रहे। वहाँ ये स्वय विद्यार्थियो को पढाते थे। एक कन्या-पाठशाला भी इन्होने खोल रक्खी थी। भजन, कीर्त्तन और कथा के द्वारा ये नैतिक तथा धार्मिक शिक्षा का भी प्रचार करते थे। १४ जुलाई १९११ को इनकी दूसरी स्त्री का

भी देहात हो गया। इस स्त्री से इन्हे धार्मिक और परोपकारी कार्यों में बहुत सहायता मिलती थी।

सप्रे जी बड़े ही सरल, शात, मिष्टभाषी और साधुचरित थे। इनका स्वभाव बहुत मिलनसार और नम्र था। अत के दिनो में वे तपस्वियों की भाँति जीवन व्यतीत करते रहे। देहरादून के हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के ये सभापति हुए थे। सप्रे जी का देहात सवत् १९८८ मे हुआ। इनके जैसा हिंदी का प्रेमी ओर साहित्य-सेवी दूसरा मिलना कठिन है। न्होने जो ध्येय अपने सामने रखा था उसका निर्वाह अनेक कष्ट और यत्रणा सहने पर भी आजन्म किया।

(४४) पंडित माधवप्रसाद मिश्र

पडित माधवप्रसाद मिश्र के पितामह पडित जयरामदास पजाब-प्रदेश के हिसार जिले मे भिवानी के समीप कूगड़ ग्राम के रहनेवाले थे। इनके पुत्र पडित रामजीदास जी हुए। दोनों पिता-पुत्र संस्कृत के प्रख्यात विद्वान् थे। हरियाना-प्रात और कुरुक्षेत्र मे उनके पाडित्य की विशेष प्रतिष्ठा थी। न्ही रामजीदास के दो पुत्र हुए—एक हमारे चरितनायक पंडित माधवप्रसाद जी और दूसरे पडित राधाकृष्ण जी। पडित माधव-प्रसाद का जन्म कूगड ग्राम मे सवत् १९२८ के भाद्रमास की शुक्ला त्रयो-दशी को हुआ। भिवानी के एक क्षमताशाली मारवाडी महोदय के विशेष आग्रह से पडित जयरामदास भिवानी मे बस गए थे, पर कूगड़ ग्राम से उनका सबध न छूटा।

पडित माधवप्रसाद ने आरभ मे शिक्षा अपने पिता से ही पाई। वे पढने-लिखने मे बडे तेज थे पर साथ ही बालसुलभ उत्पातो की भी कमी न थी। इनकी दादी भी पढ़ी-लिखी और हरिभक्ति-परायणा साध्वी

पंडित माधवप्रसाद मिश्र ।

स्त्री थी। उनके चरित्र का प्रभाव पंडित माधवप्रसाद पर बहुत कुछ पड़ा और उन्होंने पुराण और इतिहासों की कथा सुन-सुनकर बहुत ज्ञान और धर्मभीरुता का भाव ग्रहण किया। अपने पिता से इन्होंने व्याकरण, काव्य, पुराण एवं धर्मशास्त्रादि की शिक्षा प्राप्त की। इसके अनंतर बुलंदशहर के प्रख्यात पंडित श्रीधर जी से पढ़ा और अंत में काशी आकर महामहोपाध्याय पंडित राममिश्र शास्त्री से आयुर्वेदीय, दर्शनशास्त्र और पंडित उमापति से साहित्य का पूर्ण अध्ययन किया। इसी बीच में आपने उर्दू, बँगला, मराठी, गुजराती और पंजाबी का अच्छा ज्ञान अपने अध्यवसाय से प्राप्त कर लिया। यह क्रम २५ वर्ष की अवस्था तक बना रहा। इसके अनंतर ये कार्यक्षेत्र में उतर पड़े। इस क्षेत्र में उनकी जीवनधारा तीन धाराओं में प्रवाहित हुई—धर्म, देश और साहित्य।

साहित्य-कार्य में उन्होंने बाबू देवकीनन्दन खत्री के सहयोग से सन् १९०० में "सुदर्शन" नामक मासिक पत्र निकाला था। यह २ वर्ष ४ महीना चलकर बंद हो गया। इसके बंद होने का कारण ग्राहकों का अभाव या आर्थिक संकट न था बल्कि मिश्र जी के अनेक कार्यों में लिप्त हो जाने के कारण वे जितना समय उसके संपादन-कार्य के लिये देना चाहिए उतना दे नहीं सकते थे। इस सुदर्शन-द्वारा उन्होंने ऐसे सुंदर निबंध लिखे कि जिनकी जोड़ के लेख उस समय तो मिलने दुर्लभ थे। जैसा इसमें पांडित्य का प्रतिबिंब झलकता है वैसे परिमार्जित, प्रांजल और पुष्ट भाषा के दर्शन भी होते थे। मिश्र जी ने कोई ६० से ऊपर लेख लिखे थे, जिनमें सबसे अधिक जीवनचरित थे। इनमें विशुद्ध चरितावली तो आदर्शरूप मानी जा सकती है पर दुःख का विषय है कि वह अधूरी ही रह गई। हिंदुओं के पर्वों या त्योहारों पर उन्होंने ८ लेख लिखे थे जो बड़े ही सुंदर और मार्मिक हैं। ये लेख श्रीपंचमी, होली, रामलीला,

व्यासपूजा, नवीन वर्षोत्सव, कुंभपर्व, श्रावण के त्योहार और विजया-दशमी के संबंध मे लिखे गए है। इसके साथ उनके ७ तीर्थस्थानो तथा यात्राओ के वर्णन बड़े ही मनोहर तथा सुंदर हुए है। इनके सब लेखो का सग्रह छप गया है। इनकी समालोचनाएँ भी बड़ी निर्भीक पर शिष्ट होती थी। उन्होने वैश्योपकारक पत्र का भी कोई दो वर्ष तक संपादन किया था।

इसी प्रकार धर्मपक्ष मे वे सनातनधर्म के पूर्ण पक्षपाती थे। उसके अपमान या निंदा को वे सह नही सकते थे। भारतधर्ममहामडल के उत्थान और उन्नति मे उन्होने पडित दीनदयालु शर्मा का सहयोग किया था, पर पीछे मतभेद हो जाने के कारण वे उसके विरुद्ध हो गए। समाज-सेवा करने मे कभी पराङ्मुख नही हुए। उन्होने कलकत्ते के विशुद्धा-नद सरस्वती विद्यालय की स्थापना मे पूरा उद्योग किया था तथा मार-वाड़ियो की कई सामाजिक कुरीतियो को दूर करने मे प्रशंसनीय सफलता प्राप्त की थी।

पडित जी का स्वभाव दृढ, मिलनसार और निर्पेक्ष था। मित्रता का नाता वे सदा निबाहते थे पर अपने सिद्धातो से कभी गिरते न थे। इन्होने हिंदी तथा संस्कृत मे पद्य-रचना भी की है, पर वह अभी पुस्त-काकार रूप में प्रकाशित नही हुई है।

मिश्र जी का देहावसान संवत् १९६४ मे चैत्र बदी ४ को कूगड ग्राम मे हुआ। इस ३६ वर्ष की आयु में से २५ वर्ष तो अध्ययन में निकल गए और देश की सेवा मे वे केवल ११ वर्ष लगे रहे। पर इसमें भी इन्होने वह कार्य किया जो अत्यत महत्त्वपूर्ण है। हिंदी-साहित्य में पंडित जी ने उच्च कोटि के निबंध लिखकर उसके एक बड़े अभाव की पूर्ति की।

(४५) पंडित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी

पडित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी के पूर्वज आगरा जिले के मईयान के रहनेवाले माथुर चतुर्वेदी ब्राह्मण थे, पर व्यापार-सबध मे वे बगाल में जा बसे थे। इनके पिता पडित कालीप्रसाद का स्वर्गवास सवत् १९३४ मे हो गया। पडित जगन्नाथप्रसाद का जन्म सवत् १९३२ की आश्विनशुक्ला १० को नदिया जिले के छिटका गाँव मे हुआ था। जब ये छ महीने के थे तब इनके मामा पडित वलदेवप्रसाद पाण्डेय इन्हे अपने यहाँ मलयपुर (मुगेर) ले गए थे। वहाँ देहात मे इनकी शिक्षा का यथोचित प्रवन्ध न हो सका। तेरह वर्ष की अवस्था मे इन्होने जमुई माइनर स्कूल मे नाम लिखाया। तीव्रवुद्धि होने के कारण उन्होने थोडे ही दिनो में पढाई में अच्छी उन्नति कर ली। सन् १९६८ मे कलकत्ते के मेट्रा-पालिटन इस्टीटयूट से एंट्रेंस परीक्षा पास की। एफ० ए० की परीक्षा में ये उत्तीर्ण न हो सके इसलिए कालेज छोड वैठे। इस समय वावू वालमुकुद गुप्त से घनिष्ठता हो जाने के कारण ये हिंदी की ओर विशेष रूप से आकर्षित हुए। यद्यपि इनके हृदय मे हिंदी का प्रेम उसी समय उत्पन्न हो गया था जब ये अभी छात्रावस्था मे थे। इन्होने भारतमित्र मे लेख लिखना आरभ किया और ससार-चक्र नामक एक उपन्यास लिखा।

सवत् १९५९ मे अपने मामा के साथ चपड़े का काम देखने लगे परतु दूसरे ही वर्ष ये हितवार्ता के सहकारी सपादक हो गए। यहाँ ये केवल चार महीना रह सके और फिर चपड़े की दलाली करने लगे।

पंडित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी हिंदी की निःस्वार्थ सेवा वडी लगन के साथ करते थे। गद्य और पद्य दोनों में आपकी रचनाएँ अनेक

पत्र-पत्रिकाओ मे छपती रही। ये हास्यरस के मूर्तिमान् अवतार माने जाते थे। इनकी वक्तृताओ तथा लेखो मे व्यंग्य और हास्य का अच्छा पुट रहता था।

ये हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के लाहौरवाले अधिवेशन के तथा प्रथम बिहार प्रादेशिक हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति हुए थे। इनके रचित ये ग्रंथ हैं—वसंतमालती, संसारचक्र, तूफान, विचित्र विचरण, भारत की वर्तमान दशा, स्वदेशीआदोलन, गद्य-पद्य-माला, निरकुशतानिदर्शन, कृष्णचरित, राष्ट्रीय गीत, अनुप्रास का अन्वेषण, सिहावलोकन, हिंदी-लिंग-विचार, मधुर मिलन, निबध निश्चय।

इनके लेखो में इनकी हास्यमूर्ति का प्रत्यक्ष दर्शन होता है। ये हिंदी के अनन्य भक्त, निस्स्वार्थ सेवक और परिश्रमी उन्नायक थे। इनकी भाषा रसीली और मन में चुभ जानेवाली होती थी।

२ सितबर १९३९ (संवत् १९९६) को इनका देहांत मलयपुर मे हुआ।

(४६) पंडित पद्मसिंह शर्मा

पडित पद्मसिह शर्मा के पिता उमरावसिह जी बिजनौर जिले के नगवा नामक गाँव के मुखिया, नंबरदार और प्रभावशाली प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। इनके यहाँ जमीदारी और काश्तकारी होती थी। इनके पिता राब का व्यवसाय तथा लेन-देन का काम करते थे। ये जाति के भूमिहार ब्राह्मण थे। पडित पद्मसिंह का जन्म संवत् १९३३ की फाल्गुन सुदि १२ को हुआ था।

दस-ग्यारह वर्ष की आयु मे पिता जी ने अक्षरारभ कराया। तदनतर कई वर्ष घर पर रहकर पडितो-द्वारा सस्कृत में सारस्वत,

कौमुदी, रघुवंश आदि ग्रंथों का अध्ययन किया। इसके अनंतर कुछ दिनों तक पंडित भीमसेन शर्म्मा की पाठशाला में अष्टाध्यायी का अध्ययन किया। वहाँ से काशी जाकर अध्ययन करते रहे। इसके अनंतर मुरादाबाद, लाहौर, जालंधर, ताजपुर आदि स्थानों में रहकर अध्ययन किया। बीच-बीच में घर पर रहकर उर्दू, फारसी का अभ्यास एक मुंशी और दूसरे मौलवी से किया।

यों विद्याभ्यास तो उन्होंने अनेक स्थानों में किया, पर वास्तविक विद्या का उपार्जन अपने अध्यवसाय से घर पर किया। उन्हें पुस्तकों के संग्रह करने और उनके ध्यानपूर्वक अध्ययन का व्यसन-सा था। संस्कृत के अतिरिक्त उर्दू और फारसी का उन्होंने विशेष अध्ययन किया था और उसका प्रभाव उनकी हिंदीशैली पर विशेष रूप से पड़ा।

संवत् १९६१ में वे संयुक्त-प्रांत की आर्य्यप्रतिनिधि सभा के उपदेशक नियत हुए। कांगड़ी में गुरुकुल खुलने पर महात्मा मुंशीराम (पश्चात् स्वामी श्रद्धानन्द) ने उन्हें अपने पास बुला लिया। उस समय महात्मा मुंशीराम ने सत्यवादी नाम का साप्ताहिक पत्र पंडित इन्द्रदत्त शर्म्मा के संपादकत्व में निकाला था जिसके संपादन-विभाग में पंडित पद्मसिंह भी काम करने लगे। यहीं से मानो उनके संपादन तथा लेखन-कला का श्रीगणेश हुआ। संवत् १९६५ में आप अजमेर गए और वहाँ परोपकारी तथा अनाथरक्षक का संपादन करते रहे। यहाँ लगभग एक वर्ष रहकर आप ज्वालापुर के महाविद्यालय में आ गए और ८ वर्ष तक यहाँ काम करते रहे। संवत् १९७४ में उनके पिता का देहांत हो गया और ये ज्वालापुर की नौकरी छोड़कर घर चले आए। एक वर्ष के अनंतर ये काशी के ज्ञानमण्डल कार्यालय के पुस्तक-प्रकाशन-विभाग में कार्य करने के लिये आए। यहीं उनकी बिहारी-

सतसई के भूमिका-भाग का प्रकाशन हुआ। इसी समय सतसई-संहार पर इनकी लेखावली सरस्वती मे निकलने लगी और वर्ष भर तक निकलती रही। इससे इनकी बहुत प्रसिद्धि हुई। सवत् १९७७ में ये मुरादाबाद के प्रांतीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति हुए। सवत् १९८० में हिंदी-साहित्य-सम्मेलन मे सबसे पहले इन्हे विहारी-सतसई के तब तक प्रकाशित भाग पर मंगलाप्रसाद-पुरस्कार मिला। सवत् १९८५ मे आप मुजफ्फरपुर के हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति हुए। सवत् १९८६ मे इनका पद्म-पराग ओर प्रबध-मजरी प्रकाशित हुई। सवत् १९८९ मे आपने प्रयाग की हिंदुस्तानी एकाडमी मे हिंदी, उर्दू, हिंदुस्तानी पर एक व्याख्यानमाला दी जिसे एकाडमी ने प्रकाशित किया है। सन् १९३२ की ७ अप्रैल को प्लेग की बीमारी से आपका देहावसान अपने ग्राम मे हुआ।

पडित पद्मसिंह शर्म्मा की लेखनशैली पर उर्दू-फारसी के अध्ययन तथा आर्य्यसमाजी होने का स्पष्ट प्रभाव देख पड़ता है। चुटीले व्यंग्य और मर्मभेदी कटाक्ष उनकी शैली की विशेषता है। अनेक स्थानो मे पाठको को इनसे विशेष आनन्द मिलता है, पर जहाँ-जहाँ ये कटाक्ष तथा व्यंग्य आवश्यकता बिना जोड दिए गए है वहाँ वे खटकते है। विहारी-सतसई में तो उनके प्रकाड पाडित्य का पूरा-पूरा आभास मिलता है। इसके द्वारा इन्होने तारतम्यकात्मक आलोचना प्रणाली की नीव डाली। यह प्रणाली बहुत चली और इनकी शैली का प्रभाव विद्यार्थी-वर्ग पर इतना पडा कि बहुत-से उनके अनुयायी हो गए। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि आधुनिक काल मे ये इस शैली के प्रवर्त्तक हुए।

इनका स्वभाव सरल, आडंबरहीन था और रहन-सहन बहुत सीधी-सादी थी। इनकी योग्यता, प्रतिभा, भावुकता और निरभिमानता को

मुंशी प्रेमचंद ।

सब मानते हैं। बातचीत मे इनकी चुहलबाजी और मीठी चुटकियों का आनद आता था।

(४७) मुंशी प्रेमचंद

मुशी प्रेमचद का जन्म काशी से चार-पाँच मील उत्तर पाँडेपुर नाम के एक गाँव मे एक कायस्थ-परिवार मे हुआ था। आपके पिता डाकखाने में क्लर्क थे और बीस रुपये मासिक वेतन पाते थे। मुंशी प्रेमचद का असली नाम धनपतराय था। पिता के मरने के पहले ही पंद्रह साल की अवस्था मे आपका विवाह हो गया था। पिता के मरने के पश्चात् आपके जीवन मे बडी कठिनाइयाँ उपस्थित हुई। घर की अवस्था अच्छी न थी। आपकी रुचि पढने की ओर थी पर उसके लिये साधन न था। आप पाँडेपुर से नित्य आते थे और काशी मे पढते थे और संध्या को फिर पाँच मील पैदल घर लौट जाते थे।

क्वीस कालेज से आपने एट्रेंस परीक्षा पास की। कालेज मे पढने की वडी इच्छा थी। ट्यूशन किया करते थे और बडी कठिनाई से हिंदू कालेज में नाम लिखाया। किंतु गणित में कमजोर होने के कारण एफ० ए० पास न हो सके। कालेज छोड़कर मास्टरी कर ली। फिर आपने सरकारी शिक्षा-विभाग में नौकरी कर ली। पहले सब-डिप्टी-इसपेक्टर हुए। परतु स्वास्थ्य ठीक न रहने के कारण आपने दौरे की नौकरी से अध्यापकी मे बदली करा ली। नौकरी ही के समय आपने घर पर पढकर एफ० ए० और बी० ए० पास किया। सन् १९२० मे असहयोग-आदोलन मे आपने सरकारी नौकरी छोड दी और साहित्य-सेवा की ओर लगे।

मुशी प्रेमचंद जब विद्यार्थी थे तभी उपन्यास पढ़ने की ओर आपकी रुचि थी। उन्ही दिनों आपने लखनऊ के प्रसिद्ध कहानी-लेखक पंडित रतननाथ दर का फिसानाआजाद और चंद्रकातासतति उर्दू मे पढ़ी। बकिम बाबू के ग्रथो के उर्दू-अनुवाद भी आपने पढे। मुंशी जी उर्दू जानते थे और उर्दू के ही उपन्यास और कहानियाँ आपने पढी थी।

प्रेमचद ने लिखना भी उसी समय आरभ किया जब वे शिक्षा-विभाग मे सब-डिप्टी इस्पेक्टर थे। वे उर्दू में ही लिखते थे और लिखने का इनका नाम नवाबराय था जो धनपतराय का अनुवाद था। उसी से इन्हें लोग नवाब-नवाब के नाम से मरतेदम तक पुकारते रहे। सवत् १९५७ से इन्होने लिखना आरभ किया और १९५९ में पहला उपन्यास निकला और दूसरा १९६१ में। उन दिनो रवि बाबू की प्रतिभा चमक रही थी। उनकी कहानियाँ अँगरेजी मे प्रेमचंद ने पढी और उनका अनुवाद उर्दू-पत्रिकाओ में प्रकाशित कराया। इसके अनंतर इन्होने मौलिक कहानियाँ भी लिखनी आरंभ की। उन दिनो कहानियो की इतनी बाढ़ न थी और उर्दू में तो प्राय. कहानी लिखने-वाले थे ही नही। इस प्रांत मे उर्दू की दो अच्छी प्रसिद्ध पत्रिकाएँ निकलने लगी थी। कानपुर से "जमाना" पहले से निकलता था, उसके पीछे इडियन प्रेस से "अदीब" भी निकलने लगा था। नवाबराय की कहानियो से दोनो पत्रिकाएँ सुशोभित रहती थी। इनकी पहली मौलिक कहानी संवत् १९६४ में जमाना में 'संसार का सबसे अनमोल रत्न' नाम से छपी थी।

सवत् १९६६ में चार-पाँच कहानियो का सग्रह 'सोजे वतन' नाम से जमाना-प्रेस से प्रकाशित हुआ। उन दिनो आप हमीरपुर जिले मे सब-डिप्टी इस्पेक्टर थे। ये कहानियाँ राष्ट्रीय भावनाओ से भरी थी। उन दिनो

बग-भग के कारण देश में बहुत जागृति हो चली थी। कांग्रेस में गर्म-दल बन चुका था। इन्ही का प्रभाव उन कहानियो पर था। जासूसी विभाग ने नवाबराय को ढूँढ निकाला और इनके पडाव पर परवाना पहुँचा। कलेक्टर ने बुलाकर प्रत्येक कहानी का अभिप्राय पूछा। यह कहा गया कि इनमे राजद्रोह है। सारी प्रतियाँ सरकार ने ले ली और इन्हें आज्ञा हुई कि बिना आज्ञा के कुछ न लिखे। उसी समय से नवाबराय प्रेमचद हो गए और सामाजिक कहानियाँ जमाना में लिखने लगे।

स्वास्थ्य के कारण जब आपने अपनी बदली करा ली तो आप बस्ती भेजे गए। वहाँ आपसे पडित मन्नन द्विवेदी गजपुरी से भेंट हुई जो डोमरियागज में तहसीलदार थे। उनके आग्रह से कुछ कहानियो का हिंदीरूपातर आपने सरस्वती में छपवाया। हिंदी में आपकी कहानियाँ आरंभ से ही लोकप्रिय हुईं। उर्दू मे आप पर्याप्त ख्याति पा चुके थे। भाषा मँज चुकी थी। बस्ती से आपकी बदली गोरखपुर हो गई। वहाँ आपका परिचय सेठ महावीरप्रसाद पोद्दार से हुआ जिनकी प्रेरणा से पहला उपन्यास 'सेवासदन' लिखा।

इसके पश्चात् तो प्रेमचद की धूम मच गई। एक कहानी का सग्रह 'सप्तसरोज' प्रकाशित हुआ। ये कहानियाँ उर्दू में निकल चुकी थी किंतु हिंदी-पाठको के लिए नवीन वस्तु थी। केवल इन्ही दो पुस्तको से प्रेमचंद ने हिंदी में अपना स्थान बना लिया। तब से जीवनपर्यंत प्रेमचद ने हिंदी भारती की सेवा की और बराबर कहानी तथा उपन्यास लिखते रहे। अपने जीवन में दो सौ से अधिक कहानियाँ उन्होने लिखी और उनके अनेक सग्रह प्रकाशित हुए हैं जिनमें सप्तसरोज, नवनिधि, प्रेमपचीसी, प्रेमपूर्णिमा, मानसरोवर आदि मुख्य है। आपका पहला उपन्यास सेवा-सदन था। उसके पश्चात् प्रेमाश्रम निकला। फिर रगभूमि। फिर

कायाकल्प, कर्मभूमि और गबन। विधाता की विचित्रता है कि आपका अंतिम उपन्यास 'गोदान' था। आपने दो नाटक भी लिखे—'कर्बला' और 'बलिदान की वेदी।' नाटक मे इन्हे उतनी सफलता न मिल सकी जितनी कहानियो मे मिली। आपने कुछ उपन्यासो का अनुवाद भी किया। जार्ज इलियट के 'साइलस मार्नर' का 'सुखदास' के नाम से अनुवाद किया है। अनातोल फ्रास के तीया, गालसवर्षी के चाँदी की डिबिया तथा न्याय नाम के दो ग्रथो का भी हिंदी मे आपने अनुवाद किया। फिसाना आजाद का सक्षेप भी 'आजाद कथा' के नाम से आपने किया था। जो कहानियाँ आप लिखते थे उसका उर्दूरूपातर भी पत्र-पत्रिकाओ, गुजराती पत्रो मे भी छपा करता था। आपकी कहानियाँ हिंदी भाषा की परिधि के बाहर भी पहुँची। आपकी रचनाओ के लोकप्रिय होने का कारण सबसे प्रथम आपकी भाषा थी। उर्दू से आप आए थे। मुहावरों से लैस और सबकी समझ मे आनेवाली भाषा आप लिखते थे। आपकी शैली अपनी निजी ढग की थी। सामाजिक प्रश्नो पर अच्छा प्रकाश आपने डाला और ग्राम-चित्रण में अधिक सफलता पाई।

प्रेमचद ने सरकारी नौकरी छोडने के पीछे अपना निजी प्रेस खरीदा और मासिक पत्र हस को जन्म दिया। कुछ दिनो तक आप माधुरी के सपादक भी रहे और बबई मे फिल्म-कपनी मे भी साल भर तक नौकरी की। आपके दो फिल्म तैयार हुए एक सेवासदन और दूसरा मिल। परंतु वहाँ आपको सफलता नही मिली। आप साहित्याकार थे और इसी मे आपको सफलता मिल सकती थी।

आपकी कहानियो की सदा उर्दू और हिंदी दोनो पत्रो मे माँग रहा करती थी और पुरस्कार भी अच्छा मिलता था। आपने कुछ दिनो

सरदार पूर्णसिंह ।

तक एक राजनीतिक साप्ताहिक पत्र जागरण भी निकाला किंतु उसमें सफलता नही मिली।

अपने साहित्य से अधिक अध्ययन की वस्तु प्रेमचद स्वय थे। पतला-दुबला शरीर, गोरा-सा रग, बडी बडी आँखे, घनी मूँछ, देखते ही एक प्रभाव उत्पन्न कर देती। रहन-सहन और स्वभाव बड़ा सीधा और सरल। व्यवसाय-बुद्धि बिलकुल नही। उनके समय मे प्रेस मे सदा घाटा रहता था। इतनी पुस्तके लिखी पर कुछ विशेष जमा नही कर गए। मिलने-जुलने मे बनावट छू नही गई थी। जिन आदर्शों को कहानियो मे लिखते थे कार्यान्वित करने की चेष्टा भी करते थे। आपने श्रीमती शिवरानी देवी से *विधवा-विवाह किया था जो आपकी दूसरी पत्नी हैं।* आप हिंदी की एक विभूति थे। आपकी राष्ट्रीयता कुछ कुछ समाजवादी सिद्धातो की थी और साहित्य में आप सरल हिंदी के पक्षपाती थे।

जीवन के प्रारभ मे निर्धनता के कारण स्वास्थ्य अच्छा न रहता था। मरने के पहले जलोदर रोग से आप पीड़ित थे। संवत् १९९३ मे आपका स्वर्गवास हुआ।

(४८) सरदार पूर्णसिंह

सरदार पूर्णसिंह का जन्म सीमाप्रात के ऐबटाबाद जिले के एक गाँव मे सवत् १९३८ मे हुआ था। इनके पिता एक साधारण सरकारी नौकर थे जो वर्ष के अधिकाश भाग में सीमाप्रात प्रदेश की पहाड़ियो पर दौरा करते रहते थे और फसल तथा भूमि-सबधी कागज-पत्रों की देख-रेख किया करते थे। सलिये घर-गृहस्थी की देख-भाल इनकी माता किया करती थी, जो एक साध्वी, धर्मप्राण और साहसी महिला थी। जिस ग्राम मे सरदार साहब का जन्म हुआ और जहाँ ये लोग रहते

में वहाँ पठानों की बस्ती अधिक थी। इन्ही के बीच इनकी बाल्यावस्था बीती। इनकी माता के ही उद्योग और अध्यवसाय से ये रावलपिंडी के एक स्कूल में बैठाए गए। वहाँ इनकी माता इनके साथ रहती थीं। ये स्कूल के तेज लड़कों में न थे, पर पढ़ने-लिखने का काम मन लगाकर करते थे और परीक्षाओं में सुगमता से उत्तीर्ण हो जाते थे। यहाँ से एंट्रेंस पास करके ये लाहौर पढ़ने चले आए। यहाँ अभी ये ग्रेजुएट भी न हो पाये थे कि इन्हें जापान जाने के लिये एक छात्रवृत्ति मिली। अतएव सवत् १९५७ में ये जापान चले गये और वहाँ तीन वर्ष रहकर टोकियो के इम्पीरियल यूनीवर्सिटी मे इन्होंने व्यावहारिक रसायनशास्त्र का अध्ययन किया। इन्हीं दिनों में स्वामी रामतीर्थ जापान गए हुए थे। उनसे सरदार साहब की भेंट हुई। उनके व्याख्यानों को सुनकर वे बड़े प्रभावित हुए और पूरे वेदांती बन गए। वे इस सबध मे स्वयं लिखते है—"इसी समय जापान में एक भारतीय सत से, जो भारतवर्ष से आया था, मेरी भेंट हो गई। उन्होंने मुझे एक ईश्वरीय ज्योति से स्पर्श किया और मै संन्यासी हो गया। मगर मै देखता हूँ कि उन्होंने मेरे हृदय में और भी अनेक भाव, जिनके लिये भारत के आधुनिक साधु बहुत व्यग्र हैं, भर दिए; जैसे राष्ट्र का निर्माण, भारत की महत्ता को जाग्रत करना और कर्म मे निरत रहना। यद्यपि मैं जीवन की व्यर्थ बातों मे आकर्षित नही होता था, परतु जिसने मुझे आत्मज्ञान की इतनी बातें बताई थी, उनकी आज्ञा शिरोधार्य करके मै अपनी रसायन की पुस्तके फेंक-फाँककर भारत की ओर चल दिया।" इस प्रकार ये स्वामी रामतीर्थ के अनुयायी और अतरग शिष्य हो गए। यहाँ कुछ दिनो तक संन्यासी वेष में रहकर इन्होंने गृहस्थाश्रम धर्म का पालन करना उचित समझा। इनका विवाह हो गया और ये देहरादून के इम्पीरियल

फ़ारेस्ट इंस्टीटयूट मे केमिस्ट के पद पर नियुक्त हो गए। वहाँ इन्हे ७००) रु० मासिक वेतन मिलता था जो सबका सब साधु-सतो की सेवा और आतिथ्य मे तथा अनेक लोगो की सहायता मे व्यय हो जाता था। घर मे इनकी स्त्री ही सब काम अपने हाथों से करती थी। सरदार साहब अपने विषय के पूर्ण पडित थे, पर इनके अधिकारी साहब मे इनकी नही पटती थी। अतएव इन्होंने वहाँ से इस्तीफा दे दिया और ग्वालियर जाकर कृषि-कार्य करने लगे।

जब ये देहरादून मे नौकर थे तब एक ऐसी घटना हुई जिससे इनके जीवन में विशेष परिवर्तन हुआ। इस घटना का वर्णन पडित पद्मसिह शर्म्मा ने इस प्रकार किया है—

"उन दिनो प्रोफेसर पूर्णसिंह पर रामतीर्थ के वेदात की मस्ती का बडा गहरा रग चढा हुआ था। उस रग मे वे सराबोर थे। उनके आचार-विचार और व्यवहार मे वही रग झलकता था। वे उस समय स्वामी रामतीर्थ के सच्चे प्रतिनिधि प्रतीत होते थे। खेद है, आगे चलकर घटनाचक्र मे पडकर वह रग एक दूसरे रग में बदल गया। देहली-षड्यत्र के उस मुकदमे मे जिसमे मास्टर अमीरचद को फाँसी की सजा हुई, सबूत या सफाई मे प्रो० पूर्णसिंह की तलबी हुई। मास्टर अमीरचद स्वामी रामतीर्थ के अनुयायी भक्त थे। उन्होने स्वामी रामतीर्थ की कुछ पुस्तके भी प्रकाशित की थी। इस हिसाब से मास्टर साहब प्रो० पूर्णसिंह के गुरु-भाई थे। देहली मे जाकर कभी-कभी उनके पास ठहरते भी थे। उस मुकदमे में प्रो० साहब की तलबी का यही कारण था। उस समय देश की दशा कुछ और थी और वह मुकदमा भी बडा भयानक था। बहुत-से निरपराध लोग भी उसके लपेट मे आ गए थे। प्रो० पूर्णसिंह के फँसने की शायद संभावना थी या नौकरी छूटने का डर था, यह देख

कर प्रो० पूर्णसिंह के आत्मीय और मिलनेवाले, जिनमे सिक्ख-संप्रदाय के सज्जनो की संख्या अधिक थी, घबरा गए। उन्होने प्रो० पूर्णसिंह पर जोर दिया कि वे मास्टर अमीरचंद और स्वामी रामतीर्थ से अपना किसी प्रकार का सबध स्वीकार न करे। मजबूर होकर प्रो० पूर्णसिंह को यही कहना पड़ा। उन्होने अदालत में ऐसा ही बयान दिया कि स्वामी रामतीर्थ या उनके शिष्यो से मेरा किसी प्रकार का भी सबध नही है। इस प्रकार प्रो० पूर्णसिंह उस मुकदमे की आँच से तो बच गए पर उनके विचारो की हत्या हो गई। स्वामी रामतीर्थ के वेदात-सिद्धात से उनका संबध सदा के लिये छूट गया। प्रो० पूर्णसिंह को वैसा बयान देने के लिये मजबूर करनेवालो मे एक सिख साधु भी थे। उनकी सगति और शिक्षा ने प्रो० पूर्णसिंह की काया ही पलट दी। उन्होने सब प्रकार से उस सिक्ख साधु को आत्मसमर्पण कर दिया, बिलकुल उसी के रंग मे रँग गए।"

इस घटना का उन पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि उनका रूप-रंग बदल गया। यह तो पहले लिखा जा चुका है कि फारेस्ट इस्टीटयूट के प्रिंसिपल से उनकी नही पटती थी; इसलिये उन्होने नौकरी छोड दी और ग्वालियर चले गए। पर वहाँ भी न ठहर सके। वहाँ से पंजाब मे जडाँ-वाला मे आकर उन्होने कृषिकार्य आरभ किया। यहाँ उन्हे विशेष आर्थिक कष्ट रहा। उनका देहात ३१ मार्च सन् १९३१ (सवत् १९८८) को हुआ।

सरदार पूर्णसिंह के लिखे ५ हिंदी-लेखो का पता चला है—(१) कन्यादान या नयनो की गगा, (२) पवित्रता, (३) आचरण की सभ्यता, (४) मजदूरी और प्रेम, (५) सच्ची वीरता। इन लेखो की शैली भाव-प्रधान है। इनमे लाक्षणिकता के द्वारा उनकी भाषा की शक्ति और भावो की विभूति की अत्यत मनोहर छटा देख पडती है। इस नई शैली के प्रवर्तक प्रो० पूर्णसिंह थे। अभी तक उनकी समकक्षता करने की

ओर प्रवृत्ति नही देख पडती। उसके लिये प्रकांड विद्वत्ता, भावो का प्रवल प्रवाह और अपने विचारो की तल्लीनता चाहिए। यद्यपि प्रो० पूर्णसिंह के पाँच ही लेखो का अब तक पता चला है, पर हिंदी-निबंधो मे वे एक विशिष्ट स्थान के अधिकारी है। यदि प्रो० पूर्णसिंह की सामारिक स्थिति मे घोर परिवर्तन न होता तो न जाने कितने रत्नो से वे भाषा-भाडार को भरते।

(४९) बाबू रामदास गौड़

बाबू रामदास गौड का जन्म जौनपुर मे सवत् १९३८ की मार्गशीर्ष अमावस्या को हुआ था। इनके पिता मुशी ललिताप्रसाद जौनपुर के चर्चमिशन हाई स्कूल के सेकंड मास्टर थे।

गौड जी ने फारसी, गणित तथा अँगरेजी की शिक्षा अपने पिता से पाई थी। इनकी माता और नानी नित्य नियमपूर्वक रामचरितमानस का पाठ करती थी। अतएव छोटी ही अवस्था में इनको रामचरितमानस से प्रेम हो गया था। सवत् १९५३ में इन्होंने जौनपुर से एट्रेंस पास करके बनारस के सेंट्रल हिंदू कालेज में नाम लिखाया और यहाँ से संवत् १९५८ में एफ० ए० पास किया। फिर प्रयाग के म्योर सेंट्रल कालेज से संवत् १९६० मे बी० ए० पास किया। कुछ दिनो तक इन्होने कानून का भी अध्ययन किया। सवत् १९६१ से १९६३ तक कायस्थ पाठशाला मे रसायन के प्रोफेसर और १९६३ से १९७५ तक म्योर सेंट्रल कालेज के डिमास्ट्रेटर रहे। इसी बीच मे संवत् १९६५ मे इन्होंने रसायन में एम० ए० की परीक्षा पास की। सवत् १९७५ में हिंदूविश्वविद्यालय मे आकर ये कार्य करने लगे। पर १९७७ मे असहयोग-आंदोलन के समय विश्वविद्यालय की नौकरी छोड दी। यहाँ से ये कानपुर चले

गए और वहाँ राष्ट्रीय विद्यालय मे काम करने लगे। १३ दिसबर सन् १९२१ मे ये पकडे गए और इन्हे डेढ़ वर्ष का कारागार और १००) का अर्थ-दंड दिया गया। पर जनवरी १९२३ मे और लोगो के साथ ये भी छोड दिए गए। अब ये काशी मे ही रहने लगे। यहाँ कुछ काल तक 'आज कार्यालय' मे काम करते रहे। इसी समय ये म्युनिसिपल बोर्ड के मेंबर निर्वाचित हुए। पर मतभेद हो जाने के कारण उसे छोडकर विहार-विद्यापीठ मे चले गए। वहाँ ये थोडे ही दिन रहकर काशी लौट आए।

इनकी कविताएँ रसिकवाटिका और छत्तीसगढमित्र मे छपती रही। उन्होने कुछ वर्षो तक 'गौड़हितकारी' तथा 'विज्ञान' का सपादन भी किया था। संवत् १९७२ से वैज्ञानिक विषयो पर लेख लिखने लगे और विज्ञान के प्रसार मे बडी दृढता तथा अध्यवसाय से उद्योग करते रहे। इनके बनाए हुए ग्रथों मे मुख्य ये हैं—सक्षिप्त रामायण, स्वप्नादर्श, ताजकिरे सुचारवशी, भारी भ्रम, भुनगापुराण, वायुमंडल पर विजय, वैज्ञानिक अद्वैतवाद, रसायन, विज्ञानसूत्र, विज्ञानहस्तामलक। अतिम पुस्तक पर उन्हे साहित्य-सम्मेलन से मगलाप्रसाद-पुरस्कार मिला था। इन्होने कई स्कूली पुस्तको का भी संपादन किया था तथा रामचरितमानस की विस्तृत भूमिका लिखी थी।

इनकी रहन-सहन बहुत सीधी-सादी थी। जिस काम मे लग जाते थे उसे बडी दृढता से अग्रसर करते थे। लिखना-पढना ही इनका मुख्य व्यसन रहता था। भाषा इनकी सरल पर पुष्ट होती थी। अतिम दिनों में ये राम के भक्त होकर उन्ही की पूजा-चर्चा किया करते थे। भूत-पिशाचो पर भी इनका विश्वास था, पर अत मे उस मार्ग से ये विरत हो गए थे।

इनका देहात सन् १९३७ (संवत् १९९४) मे काशी मे हुआ।

पंडित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ।

(५०) पंडित चंद्रधर शर्मा गुलेरी, बी० ए०

पजाव का कागडा-प्रात प्राचीन काल मे त्रिगर्त्त कहलाता था। वहाँ के सोमवशी राजा जब मुलतान छोडकर पहाडो मे आए थे तब अपने साथ पुरोहितो को भी लेते आए थे। उसी वश के राजा हरिचद्र ने गुलेर मे राज्य स्थापित कर सन् १४२० मे हरिपुर को अपना राज्यनगर बनाया था। उक्त राजा ने अपने कुछ पुरोहितो को "जडोट" ग्राम जागीर की भाँति दे दिया था, वही पुरोहित 'जडोटिये' कहलाए। उन्ही पुरोहितो के वश में सवत् १८९२ मे पडित शिवराम जी का जन्म हुआ था जिन्होने काशी आकर श्री गौड स्वामी तथा अन्य कई विद्वानो से व्याकरण आदि शास्त्रो की बहुत अच्छी शिक्षा पाई थी। उनकी योग्यता और विद्वत्ता से प्रसन्न होकर जयपुर के महाराज सवाई रामसिह जी ने उन्हे अपने पास रख लिया था। जयपुर मे पडित शिवराम जी ने प्रधान पडित रहकर सैकडो विद्यार्थी पढाए थे और अच्छा यश प्राप्त किया था। सवत् १९६८ मे उनका परलोकवास हो गया।

पंडित चद्रधर शर्मा उक्त पडित जी के ज्येष्ठ पुत्र थे। इनका जन्म २५ आषाढ सवत् १९४० को जयपुर मे हुआ था। बाल्यावस्था में इन्होने अपने पिता जी से ही शिक्षा पाई थी। उसी समय इन्हें सस्कृत का विशेष अभ्यास कराया गया था। बहुत ही छोटी अवस्था मे इन्हे सस्कृत बोलने का अच्छा अभ्यास हो गया था। जिस समय ये पाँच-छ वर्ष के थे उस समय इन्हे तीन-चार सौ श्लोक और अष्टाध्यायी के दो अध्याय कंठस्थ थे। नौ-दस वर्ष की अवस्था में एक बेर इन्होने सस्कृत का छोटा-सा व्याख्यान देकर भारत-धर्म-

महामडल के कई उपदेशकों को चकित कर दिया था। प्रसिद्ध मासिक पुस्तक काव्यमाला के संपादक महामहोपाध्याय पडित दुर्गाप्रसाद जी की कृपा से इनके हृदय में देश-सेवा, साहित्यप्रेम आदि कई उपयोगी विचारो के अंकुर उत्पन्न हुए थे।

सन् १८९३ मे इन्होंने जयपुर के महाराज कालेज मे अँगरेजी पढना आरभ किया। छः ही वर्ष मे सन् १८९९ में ये प्रयाग-विश्वविद्यालय की एट्रेंस परीक्षा मे प्रथम हुए और कलकत्ता-विश्व-विद्यालय की उसी परीक्षा मे प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। इनकी इस सफलता के कारण जयपुर-राज्य ने इन्हे एक स्वर्णपदक दिया था। उसी वर्ष इन्होंने महाभाष्य पढना आरभ किया। सन् १९०२ मे इन्होंने जयपुर के मानमंदिर के जीर्णोद्धार मे सहायता दी और सम्राट् सिद्धान्त नामक ज्योतिष-ग्रथ के कई अशों का बहुत योग्यता-पूर्वक अनुवाद किया जिसके लिये उस कार्य के अध्यक्ष दो अँगरेज सज्जनो ने उनकी बहुत प्रशसा की। उसी समय लेफ्टिनेट गैरट के साथ इन्होंने अँगरेजी मे "दी जयपुर आबजरवेंटरी एंड इट्स बिल्डर" नामक ग्रंथ लिखा था। दूसरे वर्ष सन् १९०३ मे ये प्रयाग-विश्वविद्यालय की बी० ए० परीक्षा मे प्रथम हुए और इसके लिये इन्हे जयपुर-राज्य से एक स्वर्णपदक और बहुत-सी पुस्तके मिली। साथ ही साथ ये वेद और प्रस्थानत्रय का भी अभ्यास कर रहे थे। इनका विचार दर्शनशास्त्र मे एम० ए० की परीक्षा देने का था, परतु जयपुर-राज्य के आग्रह से खेतडी के स्वर्गवासी राजा साहब के सरक्षक बनकर इन्हें अजमेर के मेयो कालेज मे जाना पड़ा। आपने वहाँ सस्कृत के प्रधान अध्यापकपद को सुशोभित किया था। सन् १९१७ मे आप जयपुर-राज्य के समस्त सामतो के अभिभावक बनाए गए। मेयो कालेज

मे काश्मीर के महाराज हरिसिह, प्रतापगढ के नरेश रामसिह, ठाकुर अमरसिह, ठाकुर कुशालसिह तथा ठाकुर दलपतसिह इनके प्रिय शिष्यो में थे। सन् १९२० मे ये काशी-विश्वविद्यालय के संस्कृतविभाग के अध्यक्ष होकर काशी आए। यहाँ इन्होने दो वर्ष के लगभग कार्य किया होगा कि ११ सितबर सन् १९२२ को ३९ वर्ष की अल्प आयु मे इनका स्वर्गवास हो गया।

पडित जी ने वैदिक साहित्य, भाषातत्त्व, दर्शन और पुरातत्त्व का अनुशीलन किया था और अँगरेजी और सस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत, पाली और बँगला, मराठी आदि भाषाओ से भी ये परिचित थे।

सन् १८९७ मे इनका परिचय जयपुर के स्वर्गीय जैनवैद्य जी से हुआ था। उसी समय इनका झुकाव हिंदी की ओर हुआ। दोनो सज्जनो ने मिलकर हिंदी की सेवा करने की प्रतिज्ञा की थी। तद-नुसार सन् १९०० मे इन लोगो ने जयपुर का नागरीभवन स्थापित किया था। इन्होने कई वर्ष तक "समालोचक" का संपादन भी किया था। इसके अतिरिक्त और बहुत-से पत्रो मे प्राय. इनके लेख निकला करते थे।

नागरी-प्रचारिणी सभा काशी के कार्यो से ये बहुत सहानुभूति रखते थे और बराबर उसके सदस्य रहे। जो काम ये करते थे वह प्राय चुपचाप ही करते थे क्योकि नाम की इन्हें उतनी इच्छा नही रहती थी। औरो का शिक्षक बनने की अपेक्षा ये स्वय विद्यार्थी बनना अधिक पसद करते थे। इसी लिये इनके समय का अधिकाश पुस्तका-वलोकन मे ही बीतता था। इनके प्रिय शिष्यो मे खेतडी के राजा जयसिह थे। इनकी जेष्ठा भगिनी महारानी सूर्यकुमारी शाहपुराधीश राजाधिराज उम्मेदसिह जी की पत्नी थी। महारानी की छोटी भगिनी

महारानी चन्द्रकुमारी प्रतापगढराज्य की राजमाता है। इन दोनों बहिनों का हिंदी पर अत्यत प्रेम था। इन्ही दोनो बहिनों से पडित चन्द्रधर शर्म्मा का अत्यत स्नेह था जिससे उनके पाडित्य के विकास मे बहुत सहायता पहुँची। गुलेरी जी के सतत उद्योग से महाराज उम्मेदसिंह ने अपनी स्वर्गीया पत्नी की स्मृति को चिरस्थायी रखने के लिये बीस हजार रुपया दान देकर काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा-द्वारा सूर्यकुमारी पुस्तकमाला की स्थापना कराई।

गुलेरी जी की लिखी तीन कहानियाँ—सुखमय जीवन, उसने कहा था, और बुद्धू का काँटा प्रसिद्ध है। ये तीनो कहानियाँ भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के सजीव चित्र उपस्थित करती हैं जो गुलेरी जी की प्रतिभा की छाप लग जाने से अत्यंत मनोहर हो गई हैं। 'सुखमय जीवन' में एक नवयुवक का चित्र खीचा गया है जिसने अपने विद्या के बल एक पुस्तक लिख डाली है; पर जिसे अभी तक ससार का अनुभव नही हुआ है। परिस्थितियो ने उसे ऐसा घेरा है कि उसकी आँखे खुल जाती है और वह वास्तविक सुखमय जीवन प्राप्त करने में समर्थ होता है। 'बुद्धू का काँटा' तो और भी मनोरंजक दृश्य उपस्थित करता है। एक नवयुवक विद्याध्ययन में लगा हुआ है; उसे ससार का कुछ भी अनुभव नही है। वह लोटे मे फदा डालकर कुएँ से पानी खीचने में असफल होता है, गाँव की स्त्रियो के बीच मे पड जाने से वह सिर उठाकर बात भी नही कर सकता। ज्यो-ज्यों उसका सासारिक अनुभव बढ़ता जाता है उसका अल्हड़पन दूर होता जाता है और वह ससार का ज्ञान प्राप्त करता जाता है। परोक्ष रीति से आधुनिक शिक्षा की त्रुटियों का दिग्दर्शन भी कराया गया है। भागवन्ती की वाक्पटुता देखकर स्काट की 'क्वीन मेरी' का स्मरण

बाबू जयशंकर प्रसाद।

हो जाता है । 'उसने कहा था' तो गत महायुद्ध मे सिक्खो की वीरता, धीरता, दृढता और कर्त्तव्यपरायणता का बडा ही मनोहर दृश्य उपस्थित करती है । ये तीनो कहानियाँ हिंदी-साहित्य के अमूल्य रत्न है। इनकी बडी विशेषता यह है कि इनमें भिन्न-भिन्न पात्रो की भाव-भगी अपनी अपनी परिस्थिति के अनुसार वडी सुदर और अनुकूल भाषा मे प्रदर्शित की गई है, जिससे कहानियो मे सजीवता की पुट बडी ही सुंदर चढ गई है। गुलेरी जी हिंदी और संस्कृत के प्रकाड विद्वान् थे। इनकी लेखनी मे बल था। वे हिंदी में हास, उपहास, व्यग्य, करुण, आदि भावो का ऐसा सुन्दर चित्र उपस्थित करते थे कि उन्हे पढ़कर मन मुग्ध हो जाता है। उनकी मीठी चुटकियाँ तो हृदय को चुभ जानेवाली होती है ।

गुलेरी जी के समस्त लेखो का सग्रह कई वर्षो से काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के उदर मे समाया हुआ है; देखे वह कब प्रकाशित होता है । उसके प्रकाशित होने पर पडित जी की विद्वत्ता, प्रतिभा और लेखनशैली का चमत्कार प्रकट होगा। गुलेरी जी आधुनिक हिंदी-साहित्य के रत्नो में से एक उज्ज्वल रत्न थे ।

इनका स्वभाव वड़ा ही सरल, निष्कपट और आडवरहीन था। मित्रता के नाते को निवाहना ये खूब जानते थे। इनका व्यग्य और उपहास तो बडा ही शिष्ट और मनोहर होता था।

(५१) बाबू जयशंकर प्रसाद

आधुनिक हिंदी के खडी-बोली-काव्य की उस शैली के प्रवर्तक जिसे छायावाद के नाम से पुकारा जाता है, प्रसाद जी थे। इनका पूरा नाम जयशकर प्रसाद था। काशी मे सरायगोवर्द्धन मुहल्ले मे इनका

जन्म माघशुक्ला १० संवत् १९४६ को सुँघनी हलवाई वैश्यकुल में हुआ था । इनके पिता का नाम देवीप्रसाद था जो सुँघनी साहु के नाम से नगर में विख्यात थे। इनके कुल में सुर्त्ती, तमाखू, सुँघनी आदि का व्यवसाय होता था।

प्रारंभिक शिक्षा घर पर समाप्त होने के पश्चात् आपने क्वीस कालेज में पढना आरंभ किया। परंतु पिता की मृत्यु के कारण घर का काम-काज देखने की भी आवश्यकता हुई। व्यवसाय बड़ा था। आपका पढ़ना छूट गया। घर ही पर कुछ उर्दू, संस्कृत तथा हिंदी की शिक्षा हुई। साधारण अँगरेजी भी पढी परंतु धीरे-धीरे उसमे भी तना ज्ञान हो गया कि पुस्तके पढ और समझ लेते थे।

कविता का शौक आपको बचपन से ही था। छिप-छिपकर आपने कविताएँ लिखी थी। पीछे उन रचनाओ को आपने फाडकर फेंक दिया। पंद्रह वर्ष की अवस्था से कुछ-न-कुछ लिखते थे। पहले आपने ब्रजभाषा में रचना आरंभ की। यद्यपि पुरानी शैली का अनुसरण आपने किया और भाषा भी वही परंपरागत रक्खी फिर भी उन रचनाओ में एक नवीन दृष्टिकोण था। आपकी ब्रजभाषा की कविताएँ प्राय: अप्राप्य हैं।

वह युग खड़ी बोली की कविता के आरंभ का था। प्रसाद जी भी इसी ओर झुके और ब्रजभाषा को छोडकर आपने खडी बोली में कविता आरंभ की। आपके एक भानजे अंबिकाप्रसाद गुप्त थे। उन्होंने इन्दु नाम का एक मासिक पत्र निकालना आरंभ किया था, उससे यद्यपि प्रसाद जी से प्रकाश्य रूप से कोई संबंध नही था परंतु प्रसाद जी उसकी सहायता करते थे। उसी पत्र में प्रसाद जी की प्रारंभिक खडी बोली की रचनाएँ प्रकाशित होने लगी। इन्दु ने साहित्य-जगत् में स्थान पा लिया था और उसी के द्वारा लोग प्रसाद जी को जानने लगे थे।

परंतु जयशंकर प्रसाद जी की ख्याति उन रचनाओं-द्वारा नहीं हुई। उन्होंने अतुकांत कविता का हिंदी में श्रीगणेश किया। हरिऔध जी का प्रियप्रवास प्रकाशित हो चुका था। वह संस्कृतवृत्तों में था। जयशंकर प्रसाद ने मात्रिक और हिंदी-छंदों में भिन्न-तुकांत कविताएँ लिखीं। 'महाराणा का महत्त्व', 'प्रेम पथिक', 'दो कथाएँ' उन्होंने इसी ढंग की लिखीं और एक चंपू 'चित्राधार' भी। परंतु यह शैली उस युग को पसंद न आई और उसे बहुत दिनों के लिये उन्होंने छोड़ दिया। फिर उस प्रकार की रचनाएँ मरने के तीन-चार वर्ष पहले उन्होंने लिखीं, जब हिंदी में भिन्नतुकांत रचना का कुछ प्रचार हो चला। उसमें 'पेशौला की प्रतिध्वनि,' 'प्रलय की छाया' और 'शेरसिंह का शस्त्र-समर्पण' ये कविताएँ की हैं।

उससे भी अधिक प्रसाद जी की ख्याति उन कविताओं के कारण हुई जो व्यंजनाप्रधान हैं जिन्हें छायावाद के नाम से पुकारा जाता है। जयशंकर प्रसाद इस शैली के प्रवर्त्तक माने जाते हैं। इस ढंग की उनकी पहली रचना 'आँसू' है। यह कविता विप्रलंभ शृंगार की भावनाओं और वेदनाओं की अभिव्यक्ति है।

प्रसाद जी ने इसी शैली पर गीति-काव्य ही अधिकांश लिखे हैं। उनकी अंतिम रचना महाकाव्य के रूप में 'कामायिनी' है। उसका विषय एक वैदिक आख्यान है और इस काव्य में उन्होंने निजी रंग से उसे व्यक्त किया है। इनके अतिरिक्त उनकी फुटकर कविताओं के तीन संग्रह हैं। काननकुसुम, झरना, और लहर निकल चुके हैं।

हिंदी-साहित्य में प्रसाद जी नाटककार के रूप में सबसे अधिक विख्यात हुए। भारतेंदु के पश्चात् हिंदी में नाटक प्रायः लिखे ही नहीं गए। प्रसाद जी ने इस क्षेत्र को अपनाया। पारसी स्टेजों पर

जो नाटक खेले जाते थे उनकी यह प्रतिक्रिया थी। जयशकर प्रसाद के नाटको के विषय प्राचीन भारत की ऐतिहासिक घटनाएँ है। वे भारतीय संस्कृत के पक्षपाती थे, उसकी स्मृति दिलाना चाहते थे और वही गौरव फिर से लाना चाहते थे। बौद्धकालीन भारत का उन्होंने अच्छा अध्ययन किया था। उमे अपने नाटकों में आपने व्यक्त किया है। 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'चंद्रगुप्त मौर्य्य', 'अजातशत्रु', 'राज्यश्री', 'स्कन्दगुप्त', 'करुणालय', 'विशाख', 'कामना', 'ध्रुव स्वामिनी' और 'एक घूंट,' इन दस नाटको का उन्होंने निर्माण किया और 'इन्द्रनायिका' नाटक का कुछ अश लिखकर छोड़ गए। इसमें एक घूँट सामाजिक, कामना लाक्षणिक और शेप सब ऐतिहासिक है। इसमें कोई मतभेद नही हो सकता कि सब नाटक साहित्यिक दृष्टि से महत्त्व के और ऊँचे है। इसमें मतभेद अवश्य है कि वे मच पर सफलतापूर्वक खेले जा सकते हैं या नही।

नाटक के साथ ही साथ जयशंकर प्रसाद ने कहानी के संसार में भी प्रवेश किया। कहानियों में भी वे साधारण श्रेणी से ऊपर उठे। हृदय की सूक्ष्म भावनाओं की ओर इन्होंने अधिक ध्यान दिया। लगभग सत्तर कहानियाँ उन्होंने हिंदी में लिखी जिसके पाँच सग्रह छाया, प्रतिध्वनि, आकाशदीप, आँधी और इंद्रजाल प्रकाशित हो चुके है। उन्होंने दो सामाजिक उपन्यास भी लिखे है। कंकाल और तितली। जहाँ नाटको में उन्होंने भारतीय सस्कृति के उज्ज्वल पक्ष का निरूपण किया वहाँ उपन्यासों में आधुनिक अवनति का काला चित्र अकित किया है।

उन्होंने निबध भी लिखे है जिनमे कला, कविता, छायावाद आदि के सबंध में अपने भावो को व्यक्त किया है और अपना दृष्टिकोण

स्पष्ट करने की चेष्टा की है। इस प्रकार से उन्होंने अपनी बहुमुखी प्रतिभा से हिंदी-साहित्य के भाडार को भरा और बहुत-सी ठोस सामग्री हिंदी माता को भेंट की।

मनुष्य के रूप मे भी प्रसाद जी एक विशेष व्यक्ति थे। साहित्य-प्रेम उनमे बहुत था और सहृदयता कूट-कूट कर भरी थी। इसी में उन्होने अपने जीवन का अधिकाश भाग लगा दिया। व्यवसाय की ओर कम ध्यान दिया। यद्यपि मरने से कुछ समय पहले उन्होंने उसे सँभालने की चेष्टा की। उनके घर पर साहित्यिकों का जमघट लगता था और उन्ही के साथ साहित्य-चर्चा में उनका अधिक समय बीतता था। नारियलबाजार में उनकी एक दूकान है जिसके सामने वे सध्या को बैठा करते थे। कुछ दिनो तक तो वह एक सस्था-सी बन गई थी। बहुत-से लोग वही मिलने आते थे।

विवाद मे वे कम पडते थे। जब छायावाद का झगडा आरभ हुआ, इन्हें लक्ष्य करके भी लोगो ने बहुत व्यग्य किये परन्तु इन्होने कभी न उत्तर दिया न अपने पक्ष अथवा विपक्ष में कभी लिखा। विज्ञापन-बाजी से भी सदा दूर रहते थे। जब समय मिलता वे सस्कृत और प्राचीन भारतीय इतिहास का अध्ययन किया करते। कवि-सम्मेलनो या और साहित्यिक समारोहो में बहुत कम जाते थे। लाख चेष्टा करने पर भी कभी सभापति इत्यादि पद ग्रहण नही करते थे। यदि किसी कवि-सम्मेलन मे गये भी तो रचना नही पढी। मित्रो के बड़े जोर या दबाव से केवल दो-तीन बार अपने जीवन मे उन्होने पब्लिक मे कविता पढी। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के अतिरिक्त और किसी सस्था से उनका सपर्क नही रहा। बाहर भी साहित्यिक जलसो में कभी नही जाते थे। उनका स्वभाव कुछ आलसी भी था। यह देखकर उन्होने जितनी

पुस्तके लिखी उन्हे बहुत समझना चाहिए। पत्र-पत्रिकाओ मे भी लिखना उनके लिये दुष्कर कार्य था। कोई आया, जबरदस्ती कुछ लिखा ले गया तो ले गया। साहित्यिको का समुचित आदर और सम्मान भी करते थे। साहित्यिक और असाहित्यिक निर्धन व्यक्तियो के लिये उनकी जेब सदा खुली रहती थी।

विचारों मे जयशकर प्रसाद पक्के नियतिवादी थे। यद्यपि वे उपनिषदो के बड़े भक्त थे। सिरहाने उपनिषदो की एक छोटी पोथी सदा रहा करती थी। उसका बहुत अध्ययन करते थे। उनकी कविताओ मे भी उपनिषदो की छाप है। इतना होने पर भी भाग्य के भरोसे रहे। जीवन मे उन्हे बहुत-सी प्रतिकूल परिस्थितियो से लडना पडा, परतु वे भाग्य के ही भरोसे लड़े।

बहुत कुछ निकल जाने पर भी उनके पास पर्याप्त भूमि तथा मकान थे। उनके किराया आदि की वसूली मे बहुधा अडचने पडती थी पर वे कचहरी कभी नही गए। मुकदमे से वे घबराते थे। विचारो मे उदार और देशभक्त थे। यद्यपि कभी सक्रिय सहयोग राजनीति से नहीं किया, न चलती राजनीतिक पुस्तके लिखी परतु थे राष्ट्रवादी।

जीवन के अतिम पाँच-सात वर्षो मे वे प्रायः बीमार रहा करते थे। उन्हे मदाग्नि तथा अजीर्ण रोग हो गया था। फिर भी उनके अधरो से स्मित रेखा नही मिटी और वह सुन्दर गोल शरीर, सफाचट चेहरा सदा हँसता ही रहा। अंत मे उन पर क्षयरोग का आक्रमण हुआ और उसी से संवत् १९९४ की प्रबोधिनी एकादशी को वे इस असार संसार को छोड गये।